दिगम्बर जैन ग्रंथमाला नं. २९.

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्रीदशलक्षण धर्म।

(दशलक्षणव्रत-कथा सहित)

शास्त्राधारसे लेखक—

मास्टर दीपचंदजी उपदेशक (नरसिंहपुर)

प्रकाशक—

मूलचंद किसनदास कापड़िया,

ऑ. संपादक, "दिगंबर जैन"—सूरत।

प्रथमावृत्ति] वीर सं. २४४० [प्रति २०००

बम्बई निवासी शेठ चुन्नीलाल हेमचंदजी जरीवालोंकी परलोकवासिनी पुत्रवधू निर्मला (संतोक) के स्मरणार्थ "दिगंबर जैन" पत्रके ग्राहकोंको सप्तम वर्षका नवमां उपहार।

मूल्य रु. ०—५—०.

प्रस्तावना।

श्री 'दशलक्षणजी' महान् पर्वमें प्रत्येक नगर व ग्रामोंमें श्री दशलक्षणधर्मका व्याख्यान होनेकी आवश्यकता है, परन्तु दशलक्षणधर्मके व्याख्यानका कोई अलग ग्रंथ न होनेसे बहुतसे भाई दशलक्षणधर्मका व्याख्यान पढ़ने व सुननेसे वंचित रह जाते हैं, इसलिये हमने मास्टर दीपचंदजी उपदेशक द्वारा श्रीरत्नकरंडश्रावकाचार आदि शास्त्रोंके आधारपर 'श्री दशलक्षण धर्म' नामका यह ग्रंथ तैयार कराकर और इसके साथमें श्रीदश-लक्षणव्रतकथा भी शामिल कर दी है। यह ग्रंथ श्रीदशलक्षणजी पर्वमें प्रत्येक नगर व ग्रामोंमें पढ़ा जाना चाहिये। इस ग्रंथमें उत्तम-क्षमा, मार्दवादि दश धर्मोंका अलग२ व्याख्यान किया गया है। श्री दशलक्षण पर्वमें प्रतिदिन एक २ धर्मका व्याख्यान सब भाईयों और महिलाओंको सुनना और पढ़ना चाहिये।

जहांतक हो सके ऐसे ग्रंथोंका प्रचार विना मूल्य होना चाहिये, इस हेतुसे यह ग्रंथ बम्बई निवासी श्रीमान शेठ चुंनीलाल हेमचंदजी जरीवालोंने अपनी परलोकवासिनी पुत्रवधू निर्मला (उर्फ संतोक), जो कि मात्र १६ वर्षकी अल्प वयमें इसी वर्षमें ही अचानक परलोकवासिनी हुई है और जिसने गत दशलक्षण व्रतके १० उपवास आनंदके साथ विधिपूर्वक किये थे, के स्मरणार्थ प्रकट कर "दिगंबर जैन" के ग्राहकोंको सप्तम वर्षका (नववाँ) उपहार स्वरूप वितरण किया है।

यह ग्रंथ जैनोंके अतिरिक्त अजैनोंके लिये भी पढ़ने सुनने योग्य है। इसलिये इसकी हजारों प्रतियोंके प्रकट होनेकी आवश्यकता है। यदि इस ग्रंथके लिये जनसमाजकी तर्फसे आदर मिलेगा तो इसकी दूसरी आवृत्तिके समय हम बहुतसी प्रतियाँ प्रकाशित कर वितीर्ण कर सकेंगे।

श्रीवीर सं० २४४०
श्रावण वदी ७
ता० १३-८-१९१४.

जैन जातिका सेवक,
मूलचंद किसनदास कापड़िया.
सूरत.

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

श्री दशलक्षण धर्म ।

वत्थु स्वभावो धम्मो, उत्तम खमादि दह विधो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मम् अहिंसाही लक्खनो धम्मो ॥

अर्थ—वस्तुका जो स्वभाव है, वह धर्म्म है । उत्तम क्षमादि दश प्रकार भी धर्म्म है, और रत्नत्रय रूप भी धर्म्म है तथा निश्चय करके अहिंसा लक्षण ही धर्म्म है ।

भावार्थ—यद्यपि उक्त गाथामें वस्तुके स्वभावको, व उत्तम क्षमादि दश लक्षणोंको, व रत्नत्रयको, व अहिंसाको, इस प्रकार धर्म्म चार प्रकारसे कहा है, तथापि निश्चयसे विचार करनेपर केवल वस्तु स्वभावमें ही अन्य तीनों प्रकार गर्भित हो सक्ते हैं । कारण यहांपर जो धर्म शब्दकी व्याख्या की गई है, वह जीवापेक्षा की गई है, इसलिये जिस प्रकार अजीवका स्वभाव जड़त्व है, उसी प्रकार जीवका स्वभाव चेतनत्व है । और जहां चेतनत्व होता है, वहां पर अविनाभावी सम्बन्धसे दर्शन और ज्ञानगुण भी होता है अर्थात् देखना व जानना ।

जीवका यद्यपि स्वभाव चेतनत्व, दर्शन व ज्ञान है तथापि वह अनादि कर्मबन्धके कारणसे पुद्गलसे मिला हुवा परभाव रूप (रागद्वेषरूप) परिणमन करता है। तभी वह इष्ट-अनिष्ट बुद्धिको प्राप्त होकर कभी क्रोध, कभी मान, कभी लोभ, कभी माया, कभी तृष्णा, कभी आशा, कभी झूठ, कभी स्वच्छंद इन्द्रिय विषयरूप प्रवृत्ति, कभी कुशीलरूप, कभी कुध्यानरूप प्रवृत्ति करता है। कभी अन्यथा श्रद्धान करके वस्तु स्वरूपको अन्यथा ही जानता हुवा, अन्यथा प्रवृत्ति करता है। कभी स्वार्थ व प्रमादवश होकर परपीड़नरूप प्रवृत्ति करता है इत्यादि। यदि वह यथार्थ पदार्थस्वरूपका श्रद्धान करके तदनुसार जाने, और तदनुसार ही प्रवृत्ति करे (इसीको रत्नत्रय कहते हैं) तो परभाव रागद्वेष आदि होने ही न पावें। तव क्रोधादि भावोंके न होनेसे उत्तम क्षमादि दश प्रकार (दश धर्मका स्वरूप आगे कहा जायगा) धर्म कहा जा सक्ता हैं। जब यह जीव स्वभावरूप ही परणमन करता है, तब न तो इससे षट्कायी जीवोंके हननरूप बाह्य हिंसा होती है, न रागादि भावरूप अंतरंग हिंसा होती है। इस प्रकार हिंसाके न होनेसे अहिंसा स्वयमेव हो गई॥

इस प्रकार उक्त गाथामें कहे हुवे धर्मके भिन्न २ लक्षणोंकी एकार्थरूपसे एकता बताई। अब यहांपर उत्तम-क्षमादि दश प्रकार धर्म्मका खुलासा-स्वरूप कहते हैं।

भगवान् उमास्वामिने कहा है:—

उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्माः ॥

अर्थ—उत्तम १क्षमा, उत्तम २मार्दव, उत्तम ३आर्जव, उत्तम ४सत्य, उत्तम ५शौच, उत्तम ६संयम, उत्तम ७तप, उत्तम ८त्याग, उत्तम ९आकिञ्चन्य और उत्तम १०ब्रह्मचर्य, ये दश प्रकार धर्म अर्थात् आत्माके स्वभाव हैं । इन प्रत्येकका पृथक पृथक् वर्णन नीचे किया जाता है—

उत्तम क्षमा ॥

उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट (अच्छी) और क्षमा अर्थात् सहनशीलता (किसी भी प्रकारके दुःखको सहार लेनेकी शक्ति) सो उत्तम क्षमा है । अर्थात् जिस शक्तिके कारण किसी भी प्रकारके कष्ट (दुःख) आने पर भी घबरावे नहीं, व्याकुल होवे नहीं, किन्तु उस दुःख व क्लेशको पूर्वोपार्जित कर्मका फल जानकर, समभावोंसे सहन करे, सो क्षमा नामा आत्माका गुण है। प्रायः संसारी प्राणी अपने इस उत्तम गुणको भूले हुवे इसके विपरीत, इद्रियोंके इष्ट विषयोंमें वा विषयोंकी सहायक सामग्री और विषयानुरागी मनोनुकूल मित्रोंमें राग (प्रीति=रति) करते हैं । और इनसे उल्टे

इन्द्रियोंको अनिष्टसूचक पदार्थ व मन्शा विरुद्ध पुरुषोंसे द्वेष (अरति=अप्रीति) करते हैं । ऐसी अवस्थामें इष्टानिष्ट (रति, अरति) सूचक जो कुछ भाव होते हैं वे ही आत्माके परसंयोगसे उत्पन्न हुवे वैभाविक क्रोध (कषाय) भाव हैं ।

अर्थात्–जब इष्टकी प्राप्ति होती है, तब प्रफुल्लित चित्त हुवा अपने आपको परम सुखी मानता है । वह समझता है कि इस इष्ट वस्तुका वियोग मुझसे कदाचित् कभी भी नहीं होगा और इसी लिये वह उसमें लवलीन हो जाता है, परंतु जब कोइभी उसकी उस इष्ट वस्तुके वियोगका कारण बन जाता है, तब वह विषधर (सर्प) के समान क्रोधित होकर उसका सर्वस्व नाश करनेका उद्यम करता है । इसीको क्रोधभाव (कषाय) कहते हैं ।

क्षमागुण इसी क्रोध भावका उल्टा आत्माका स्वभाव है।

जब जीव निज भावको परणमता है, तब ही उसे उतने समय तक (जब तक वह स्वभावोंमें स्थिर है) सुखी कह सक्ते हैं । यथार्थमें सुख स्वभावको प्राप्त होनेको ही कह सक्ते हैं, क्योंकि परभाव अर्थात् विभाव भावोंको प्राप्त होतेही वह दुःखी हो जाता है । और उक्त कथनसे यह निश्चित हो चुका है कि क्रोधभाव आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु विभाव हैं, इस लिये ये (क्रोध) भाव उसे केवल दुःखके देनेवाले हैं ।

सुखको प्राप्त करना जीव मात्रको अभीष्ट है। इसी लिये प्राणी मात्रको चाहिये कि विषधर (सर्प) के समान घातक क्रोधको छोड़कर उत्तम क्षमाको धारणकर सुखी होवें।

यहांपर यह शंका उपस्थित हो सक्ती है कि कदाचित् क्षमासे पारलौकिक (मुक्ति) का सुख मिल सक्ता हो सो तो ठीक है, किन्तु संसारी सुख तो नहीं कहा जा सक्ता है।

तो उत्तर यह है कि मुक्तिका सुख तो मिलताही है, किन्तु इस (क्षमा) से संसारिक सुख भी मिलते हैं। देखो, लोकमें कहावत है कि—बनिया (वैश्य) सबसे मोटा होता है, क्योंकि वह गम् खाता (क्षमा रखता) है। और क्षत्री दुबला (पतला) होता है क्योंकि वह सदा क्रोधी रहता है। कहा भी है—

कोपःकरोति पितृमातृ सुहृज्जनानामप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारम्
देह क्षयं प्रकृत कार्यविनाशनंच मत्वेतिकोपवशिनोनभवन्तिभव्याः

(सुभाषित रत्न सन्दोह)

अर्थ—क्रोधसे मातापितादि स्नेही पुरुषोंका अप्रिय, उपकारियोंका अपकारी हो जाता है, शरीर क्षीण होता है, और संसारिक कार्य भी बिगड़ जाते हैं। ऐसा समझ कर भव्य (उत्तम) पुरुष कदापि क्रोधके वश नहीं होते हैं।

प्रसंग वश श्रेणिकपुराणमें की एक कथा स्मरण आ गई सुनिये। किसी ब्राह्मणकी इकलोती सुन्दर कन्या थी। ब्राह्मण राजपुरोहित था, इस लिये वह छोटी कन्या पिताके साथ

कभी २ राजमहलमें जाया करती थी । राजा उस कन्यापर बहुत प्रेम करते थे । यद्यपि कन्या रूपवान, विद्यावती थी, तथापि उसमें क्रोध भी असीम था । यदि कोई उसे तू करके बोल देता, तो वह मारे क्रोधके लाल हो जाती थी । प्राणियों- की रुचि विचित्र है । लोगोंने उसे तू शब्दसे चिढ़ती जानकर और भी चिढ़ाना आरंभ किया, यहां तक कि उसका नाम भी तुंकारी रख दिया । तुंकारी लोगोंको केवल तू शब्दपर ही अनेक गालियां देती, मारने दौड़ती, मारती भी, तो भी राजाके भयसे उसे कोई कुछ भी नहीं कहता था ।

जब वह कन्या तरुण हुई, तो उसके क्रोधके कारण कोई भी उसे नहीं व्याहता था । निदान एक जुवाड़ी (द्यूत- व्यसनी) पुरुषने (जो कि जुवामें उधार द्रव्य लेकर हार गया था और जिसे अन्य जुवाड़ीयोंने अपना उधार दिया द्रव्य न पानेके कारण नाकमें कौड़ी पहिना कर उल्टा झाड़से टांग कर मार रहे थे सो छुटकारा पानेकी इच्छासे) व्याहना स्वीकार कर लिया । तुंकारी क्रोधित होनेके कारण रंक गुण- हीन कुरूप व्यसनी पुरुषसे व्याही गई । पश्चात् किसी दिन उसका पति राजसभासे कुछ देरीसे आया कि इसीपर क्रोधित होकर वह घरसे निकल गई । तो चोरोंके हाथ पड़ी । उन्होंने उसका शील भंग करना चाहा, तब बनदेवीने आकर रक्षा की। चोरोंसे छूटी तो बणजारोंके हाथ पड़ी । उन्होंने भी वही

कुदृष्टि की। फिर भी बनदेवीकी सहायतासे रक्षा पाई। तब बणजारोंने उसे एक छीपा (कपड़े रंगनेवाला) को बेच दी। वह छीपा उसके मस्तकमेंसे (आठवें पद्रहवें दिन ज्योंही घाव अच्छा होनेको आता) लोहू चीर कर निकालता और उससे कपड़े रंगता। जड़ीबूटियों (लक्ष मूल) के तेलसे उसका घाव अच्छा कर देता। इस प्रकार कई महिनों तक कितनेही बार उसका मस्तक चीरा गया। भाग्यवश कहीं उसका चाचा (काका) वहां पहुंच गया और छीपासे द्रव्य देकर उसे छुड़ा लाया, तबसे तुंकारीने क्रोध करना छोड़ दिया। तात्पर्य–क्रोध के कारण ही तुंकारी को इतने दुःख भोगने पड़े, इस लिये ऐसे क्रोधको दूरसे ही छोड़ना चाहिये। औरभी कहा है—

क्षमा हने औरको, अरु क्रोध हने आपको।

देखो, जो शत्रु बड़े बड़े शस्त्रधारी क्षत्रियोंसे भी अनेक चेष्टा करनेपर भी बश नहीं होते हैं, जो सिंह व्याघ्रादि घातक जीव संसारके प्राणियोंको भयभीत करते रहते हैं वे सब क्षमावान महात्मा पुरुषोंके अनायासही वश में हो जाते हैं।

क्षमावान पुरुषका कभी कोइभी शत्रु नहीं होता है। यदि कोई पुरुष कीसी पुरुषपर कुछभी क्रोध करे, और वह पुरुष उसे शान्ति (क्षमा) भावसे सहन कर ले, तो क्रोध करने-वाला स्वयम् पश्चाताप करने लगता है।

और भी क्रोधसे क्या क्या हानि होती है? सुनिये! क्रोधी पुरुष गुणयुक्त होनेपर प्रशंसा नहीं पाता। जैसे मणिवाला सर्प्प। क्रोधी पुरुषके व्रत, तप, नियम, उपवास, संयम, दान, पूजा, जप, स्वाध्याय, विद्या आदि समस्त गुण पुण्य सहित क्षण-भरमें भस्म हो जाते हैं। क्रोधसे धैर्य छूट जाता है, बुद्धि नष्ट हो जाती है, रोग घेर लेते हैं, हठ बढ़ जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है, धर्म अलग हो जाता है, बचन अन्यथा प्रवृत्त होने लगते हैं, शरीर कांपने लगता है, रोमांच खड़े हो जाते हैं, बिचारशक्ति नहीं रहती है, दया चली जाती है, मित्रताके बदले शत्रुता बढ़ जाती है, अपयश फैल जाता है, दरिद्रता घेर लेती है, इत्यादि अनेक प्रकारसे हानि होती है और क्षमासे इसके विपरीत सब गुण उत्पन्न होते हैं, इसी लिये सुखाभिलाषी सत्पुरुष सदैव क्षमाको धारण करते हैं।

जब कोई उन्हें दुर्वचन कहता है, उन पर क्रोध करता है, तो वे प्रथम सोचते है कि अमुक पुरुषके क्रोधका कारण क्या है? यदि मैंने उसका कुछ भी अपराध किया है, तब तो मुझपर उसका क्रोध कर दुर्वचन कहना ठीक ही है। मैंने क्यों ऐसा अनर्थ किया, जिससे परके परणामोंमें क्रोधभाव प्रकट हो गया। अब जैसे बने उसे क्षमा ग्रहण कराना उचित है। और इस लिये अपने दोषोंकी आलोचना कर स्वनिंदा करते हुवे उस पुरुषसे नम्र शब्दोंमें क्षमा मांगकर शांत करदेते हैं। और अपने आपको किंचित भी क्रोध होने नहीं देते हैं।

किन्तु कदाचित् कोई निष्कारण ही क्रोध कर कुवचन बोले तो सोचते हैं, कि इसमें मेरा तो कुछ भी दोष है ही नहीं। यह पुरुष व्यर्थ ही क्रोधसे अपने आत्माको मलिन कर रहा है। और व्यर्थ ही बिना सोचे मुझको दुर्वचन कह रहा है । यह अज्ञानी है, पागल है । जभी तो विवेक बिना अपना समय नष्ट कर बचन बिगाड़ रहा है । पागल व अज्ञानीके कहनेका बुरा ही क्या मानना ? वह तो अभी केवल मुंहसे ही बकता है, मारता तो नहीं है । क्योंकि पागल तो मारता है, बांधता है, काटता है, कपड़े फाड़ देता है, वस्तुवोंको तोड़ मरोड़ कर फेंक देता है, और अनेक नहीं करने योग्य कार्य करता है, तब यह तो केवल मुंहसे दुर्वचन कह रहा है। दुर्वचन मेरे शरीरमें कहीं भी चिपट तो जाते ही नहीं हैं, तब इनसे मेरी हानि ही क्या है ? कुछ नहीं ।

यदि उन्हें कोई मारने भी लगे तो सोचते हैं, वह मारता है, परंतु मुझे प्राण रहित तो नहीं करता है ।

यदि प्राण भी कोई हरण करने लगे, तो सोचते है, यह प्राण ही तो हरन करता है, मेरा धर्म जो क्षमा (आत्माका स्वभाव) है, उसे तो हरण नहीं करता है। मेरा अविनाशी, सच्चिदानन्द, अखंड, चैतन्य आत्मा जो है, उसे तो यह रंक देख ही नहीं सक्ता है, तब पीड़ा कैसे देगा ? और जिसे यह मारता है, काटता है, बांधता है, हरन कर रहा है, वह तो मेरा स्वरूप

ही नहीं है। वह जड़ है, अचेतन है, नाशवान है। किसी न किसी दिन इसका वियोग तो होता ही, सो आज इसीके हाथ सही। यदि यह इसी (मेरे प्राण हरने) में प्रसन्न है, तो अच्छा है। मेरा जो पूर्वकृत कर्मोंका इससे सम्बन्ध (वैर) था, सो अभी मेरी सावधान अवस्थामें लिये लेता है। यह इसका मुझ पर बड़ा उपकार है। कदाचित् असावधान अवस्थामें प्राण हरन करता, तो मेरा कुमरण होकर मैं दुर्गतिमें चला जाता।

इस लिये मेरा कर्तव्य है कि इस कर्म कृत आये हुवे उपसर्गको शांतिपूर्वक सहनकर समाधि सहित प्राण त्याग करूं। इसीमें मेरा कल्याण है ऐसा विचार करके वे—

खम्मामि सव्व जीवानाम् सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेषु वैरं मज्झं न केणवि॥

यह विचारकर (कि मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूं, सब जीव मुझ पर भी क्षमा करो, मेरे सबसे मित्रभाव है, मुझे किसीसे भी वैर (द्वेष) भाव नहीं है।) उत्तम क्षमा धारण करते हैं।

तात्पर्य—मित्र क्षमा सम जगतमें, नहीं जीवका कोय।
अरु वैरी नहिं क्रोध सम, निश्चय जानो लोय॥

इस प्रकार संक्षिप्तसे उत्तम क्षमाका वर्णन किया।

इति उत्तम क्षमा धर्मांगाय नमः।

उत्तम मार्दव ।

मृदोर्भावः इति मार्दवः अर्थात्—मृदु (नम्र) भावोंका होना सोही मार्दव धर्म है। उत्तम अर्थात् सच्चा (जिसमें दिखावट बनावट न हो) ऐसा उत्तम मार्दव धर्म आत्माहीका स्वभाव है। यह गुण, आत्मासे मान कषायके क्षय व उपशम वा क्षयोपशम होनेसे प्रगट होता है। अर्थात् जब तक किसी जीवको मानका उदय रहता है, तब तक वह प्राणी अपने आपको सर्वोच्च मानकर, दूसरोंको तुच्छ गिनता हुवा, सबको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा करता रहता है। जो कोई उसे नमस्कार प्रणाम नहीं करता है वा उससे मध्यस्थ वा विपक्षी होकर रहता है, वह उसे देख नहीं सक्ता है। सदैव उसे निचा दिखानेका विचार किया करता है। अपने बलाबलको न बिचारकर सबलका भी साम्हना कर बैठता है। बन्दी हो जाने पर भी वह अपनेको नतमस्तकन करके चाहे तो नष्टप्राण हो जाता है इत्यादि, इसीको मान कषाय कहते हैं।

इस कषायके उदय होते बिचार शक्ति भी कम हो जाती है। देखो, लंकाधिपति प्रतिवासुदेव दशानन (रावण) जब सीताको हरण कर लाया और जब मंदोदरी आदिने उसे समझाया, तब उसने यही उत्तर दिया—

जान है कायर मुझे नृपगण सभी संग्रामसे।
तासे लड़ना है मुझे धुन बांधके अब रामसे॥
जीतकर अर्पूं सिया प्यारी जु उनके प्राणसे।
यश होय मेरा विश्वमें बेशक सियाके दानसे॥

अर्थात्—सब क्षत्रीगणोंको विदित हो गया है कि रावण सीताको हरण कर लाया है। और राम लक्ष्मण युद्धके लिये भी आ गये है। सो यदि मैं सीताको अभी रामकी पास पहुंचा दूं, तो क्षत्रीगण मुझे कायर समझकर हास्य करेंगे, इसलिये मैं रामचन्द्र लक्ष्मणको युद्धमें जीतकर, सीता और उसके साथ बहुतसा द्रव्य देकर विदा करूंगा, किन्तु इस समय तो सीताको न भेजकर केवल युद्ध करना ही अभीष्ट है इत्यादि, और उस महा पुरुषने अन्त तक (प्राण जाते हुवे भी) अपने प्रणको नहीं छोड़ा और वीरभूमि (रणक्षेत्र) में ही मृत्युको प्राप्त हुवा—

इसी लिये संसारमें मानी पुरुषोंको रावणकी उपमा देकर लोग कहा करते हैं।

"इक लख पूत सवा लख नाती,
ता रावण घर दिया न बाती॥"

अर्थात् गर्व (मान=अहंकार) मत करो, त्रिखंडी रावणका भी मान नहीं रहा है इत्यादि।

जब इस प्रकारके मान कर्मका क्षय वा उपशम होता है तभी आत्माका स्वाभाविक गुण मार्दव प्रगट होता है।

इस गुणके प्रगट होते हुवे जीव अपने सिवाय अन्य समस्त जीवोंको अपने समान समझता है, तब उसे किसीसे रागद्वेष नहीं होता है। वह विचारता है कि सब जीव समान है। कोई कमबढ़ नहीं है। और जब कोई कमबढ़ है ही नहीं, तब मैं जिसको आधीन करना चाहता हूं? जिसको मैं अपमानित करना चाहता हूं, जिसे आज्ञाकारी बनाकर नमस्कार कराना चाहता हूं, वे सब मेरे ही समान हैं। फिर समान समानमें अधिकारी और अधिकृत कैसा? और भी तू जो अभी अपने आपको बड़ा समझता हैं, सो जब तू नर्क पशु आदि गतिमें, व हीन सेवक देवोंमें व नीच गोत्रीय मनुष्योंमें उत्पन्न हुवा था, सो तब वह तेरा बड़ापन कहां चला गया था? तू सैकड़ों वार क्या असंख्याते वार नर्क निगोदमें गया, एक पाईकी भाजी खरीदने वालेके यहां रूंकन (ग्राहक जो साग भाजी आदि दूकानदारसे पीछे मांग लिया करते हैं) में गया। मैलेका कीड़ा हुवा इत्यादि, तब तेरा बड़ापन कहां चला गया था?

आज जो तूने कुछ भी कुल, बल, ऐश्वर्य रूपादिक पाये हैं, यह सब तेरे पूर्वोपार्जित कर्मोंका फल है। सो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके निर्जर जायगा, तब तेरी यह विभव लुप्त हो जायगी। क्योंकि कहा है—

सदा न फूले केतकी, सदा न श्रावण होय।
सदा न यौवन थिर रहे, सदा जियत नहिं कोय॥

अर्थात्—जिन कारणोंसे तू अपने आपको बड़ा मान रहा है वे कारण तेरे सब नष्ट हो जांयगे । ऐसा ही प्रकृतिका नियम है । देखो कार्तिकेय स्वामीने कहा है—

जम्मं मरणेण समं, सम्पज्जई युव्वनं जरा सहिया ।
लच्छी विनाश सहिया यह सब्वं क्षणभंगुरं मुनः ॥

अर्थात्—जन्मके साथ ही मरण, यौवनके साथ बुढ़ाया, और लक्ष्मीके साथ ही दारिद्रता लगी हुई है, इस लिये वह सब क्षणभंगुर (बिनाशवान) जानो इत्यादि ।

जब संसारके पदार्थ सब ही पर्याय अपेक्षा बिनाशवान हैं, तो फिर मान किस बातका ? देखो, शरीरका बल और सौन्दर्य (रूप) जरा (बुढ़ापा) आते ही नष्ट हो जाते हैं, सब इन्द्रियां शिथिल हो जाती है, वे अपने अपने विषयको ही नहीं गृहणकर सक्ती हैं, तब तुम जो रूप सौंदर्य्यके मानसे अपनी तरुणावस्थामें औरोंका हास्य व निन्दा करते हो वे भी तुम्हारी जरावस्था होने पर हंसेगे । तब तुम्हें बहुत दुःख होगा, तब तुम्हारा मान गल जायगा । क्रोधसे रहा सहा आनन्द भी जाता रहेगा, शक्तिहीन होनेसे कुछ भी कर नहीं सकोगे । निर्बलको क्रोध बहुत होता है और जब वह क्रोध-वश किसीको मनोनुकूल दण्ड नहीं दे सक्ता है, ताड़न तर्जन नहीं कर सक्ता है, तब अपने आपका घातकर बैठता है, इस लिये ऐसे रुप सौन्दर्यका मान करना यथार्थ है ?

यदि कर्मके क्षयोपशमसे कदाचित् तुमको कुछभी ज्ञानका प्रकाश हुवा है, तो मान मत करो, क्यों कि संसारमें तुमसे भी अधिक ज्ञानी भर रहे हैं । यदि तुम इस तुच्छ क्षयोपशमिक ज्ञानका मान करते हो, तुम उस ऊंटके समान हो, जो अपने को संसारमें सबसे बड़ा मानता है, किन्तु जब पहाड़की तलहटीमें पहुंचता है, मान भंग हो जाता है । उसे हार मान्ना पड़ती है कि मेरी भूल थी । मैं सबसे बड़ा नहीं हूं । किन्तु मुझसे भी बड़े बड़े पदार्थ संसारमें हैं ।

फिर यह क्षयोपशमिक ज्ञान है इसका घटना बढ़ना भी संभव है । दूसरे यह ज्ञान इन्द्रियाधीन है सो इंद्रियोंकी शक्ति कम होते हुवे यह भी कम हो सक्ता है । पराधीन है । परोक्ष है । तब जो तुम इसका मान करोगे तो यह इन्द्रियोंकी शक्ति कम होते कम हो जानेपर तुम दूसरोंकी दृष्टिमें हीन जंच जावोगे । हंसीके पात्र बन जावोगे । तब जो लोग तुम्हारी युक्तियोंको अयुक्ति ठहरावेगें, तुम्हारे बचनोंको अप्रमाण समझेंगे, तब तुम्हें दुःख होगा । उस समय तुम मानके वश होकर हठात् अपने असत्य बचनोंको भी सत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करोगे । जैसा कि बहुतसे आधुनिक पंड़ित पूर्वी पश्चिमी विद्याके अभ्यासी स्ववचन पुष्टनार्थ अनेक युक्तिएं लगाकर ज्यों त्यों स्वपक्ष मंडन और परपक्ष खंडन कर डालते हैं । इसी प्रकार लोकमें असत्य वचनोंकी प्रवृत्ति हो जाती है । इस लिये ऐसे क्षयोपशमिक अल्प ज्ञानका मान करना वृथा है ।

और भी देखो, जो कोई अल्प ज्ञानका मान करता है और दुसरोंको अज्ञानी समझता है, वह सदा अज्ञानी ही बना रहता है। उसके ज्ञानकी वृद्धि कभी नहीं होती है। क्यों कि कहा है—

" विनय विना विद्या नहीं, विद्या विन नहीं ज्ञान।
ज्ञान विना सुख नहीं मिले, यह निश्चय कर जान ॥

इस लिये ज्ञान वृद्धिमें भी विनय प्रधान है। और मान हानिकारक है।

यदि पूर्व शुभ कर्मविशात् कुछ ऐश्वर्य (अधिकार, पूजा, प्रतिष्ठा) प्राप्त हुवा है तो उसके मानमें आकार स्वच्छन्द प्रवर्तना अच्छा नहीं है। क्यों कि अभिमानीके सब लोग निःकारण ही शत्रु बन जाते हैं। जिसमें फिर अधिकारी अभिमानी की तो कहना ही क्या है? कारण उसका सम्बन्ध बहुतोंसे है और जिस जिससे सम्बन्ध है वे सभी उसके अभिमानसे पीड़ित रहते हैं। और अवसर देखते है, कि कब इससे विशेष प्रबल पुरुषका समागम मिले और इसका मान भंग करावें।

यहां तक कि कभी कभी बहुतसे मनुष्य अपने अधिकारियोंसे अप्रसन्न होकर विपक्ष दलमें सम्मिलित होकर अपने मनकी कामना सिद्ध करते हैं। बीभिषण ही को देखो। जब रावणने उसका अपमान किया तो चार अक्षौहिणी सेन्या सहित आकर रामचन्द्रसे मिल गया और अपने भाईको मरवा डाला। इसीसे यह कहावत चारितार्थ हुई कि—घरका भेदी लंका दाह!

फिर भी यह ऐश्वर्य सदा नहीं रहेगा। बल क्षीण होते ही क्षीण हो जायगा, तब वे ही मनुष्य (जिन्हें तुम तुच्छ समझते थे, ऐश्वर्याभिमानी हुवे दूसरोंके सुख दुःख हानि लाभको नहीं देखते थे, मनमानी आज्ञा चलाते थे,) तुमको अधिकार भ्रष्ट देखकर प्रसन्न होवेंगे, तुमसे घृणा करेंगे। देखो, रावणको हजारों वर्ष हो गये हैं। तब भी प्रातःकाल कोई भी उसका नाम नहीं लेता है। इस लिये ऐश्वर्याभिमान करना वृथा है।

कहा है—

दिन दश आदर पायके, कर ले आप बखान।
जबलग काक श्राद्ध पक्ष, तबलग तुम सन्मान ॥

तात्पर्य—ऐश्वर्य सदा स्थिर नहीं रहता है। वह भी बल और बुद्धि तथा द्रव्यके आश्रित है, इस लिये उसका अभिमान करना भी व्यर्थ है।

यदि कुल (पितापक्ष) वा जाति (मातापक्ष) का अभिमान करते हो तो भी भूल है, क्योंकि कुल व जाति पूर्व कर्मसे प्राप्त हुवे हैं। यदि ऐसा मानो तो बर्तमानमें तुम्हारा इसमें पुरुषार्थ ही क्या है, जो इनका मान करते हो? यदि मान करोंगे, दूसरोंको तुच्छ गिनोंगे, तो नीच गोत्र कर्मका आश्रव करके नीच गोत्रमें चले जावोंगे। तब फिर उचपणा कहां रहेगा?

औरं यदि पुरुषार्थ (उच्च आचार विचार रखने) से कुल व जाति उच्चं होता है ऐसा मानते हो, तो फिर हर-कोई अपने उच्च आचार विचारोंसे उच्च बन सकता है। तब मैं ही उच्च हूं ऐसा मान करना व्यर्थ है। कारण उच्च कुल जातिधारी महान पुरुष कभी अपने आपको उच्च ऊच्च कहकर हल्के नहीं हो जाते हैं। कहा है—

बड़े बड़ाई ना करें, बड़े न बोले बोल।
हीरा मुंहसे ना कहे, बड़ा हमारा मोल॥

लोकमें स्वप्रशंसा करनेवाला ही नीच क्या जातिनीच समझा जाता है। और ठीक भी है। कारण नीच उच्चपणा तो मनुष्योंके आचारण व विचारोंसे अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

यदि मान लो, कोई ब्राह्मण, क्षत्री, या वैश्य के घरमें उत्पन्न होकर हिंसा करे, झूठ बोले, चोरी करे, व्यभिचार करे, न्यायान्याय रहित हुवा यथातथा भोगादि पदार्थों के बढ़ानेमें तृष्णावान रहे, मद्य मांस भक्षण करे, जुवां खेले, इत्यादि कुत्सित (खोटे) कार्य करे, वा ऐसे ही लोगोंका संग करे, तो क्या वह उच्च गोत्री रह (कहा) सकता हैं ? नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं। वह नीच, शूद्रोंसे भी महा नीच है।

और यदि कोई शूद्र, हिंसादि पाप नहीं करता है, झूट चोरी व्यभिचार नहीं सेवन करता है, न्यायाकूल योग्य

आजीविका करके संतुष्ट रहता है, मद्यमांसादि निंद्य अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाता है, सदा भले मनुष्योंकी संगतिमें रहता है, तो क्या वह नीच कहा सकता है ? नहीं, कदापि नहीं । संसारमें जीव मात्रको अपनी उन्नति करनेका स्वाभाविक अधिकार प्राप्त है । उच्च और नीचपणा किसीकी मैतृक सम्पत्ति नहीं है । जीव स्वकृत कर्मसे ऊच्च नीच हो सकता है, इस लिये उच्च बननेके लिये उच्चारण व विचार उच्च करना आवश्यक है, किन्तु गर्व करना व्यर्थ है ।

अब यदि धनका मद करते हो, तो प्रत्यक्ष देखते हुवे भी अंधेके समान हो, क्योंकि तुम जानते हो कि यह लक्ष्मी अति चंचल स्वभाव (वेश्यावत्) है । पुण्यकी दासी है । इसे पुरुषविशेषसे प्रेम नहीं है । जैसे वेश्या धनवालेसे प्रेम करके जहांतक उसके पास धन रहता है, दिखाऊ प्रीत बताते हुवे सम्पूर्ण धन हरणकर अपने उस प्रेमीको मृतकवत् छोड़ देती है, वैसे ही लक्ष्मी पुण्य क्षीण होने पर पुरुषको छोड़ जाती है । वह नीच, उच्च, मूर्ख, विद्वान, सुरूप, सबल, निर्बल, किसी पर दया नहीं करती, न प्रेम ही रखती है । किन्तु पुण्यवानसे, जैसे वेश्या धनवानसे रखती है । एक पुरुषने अपनी स्त्रीको लक्ष्मी कहके सम्बोधन किया, उस पर उस स्त्रीने क्रोधित होकर निम्न प्रकार प्रश्न किया था, जिससे पुरुष फिर निरुत्तर हो गया । सुनिये, वह पूछता है–

जाऊं कहूं न रहूं घरमें, सहु दुःख डरुं सुख सबही कठिनाई।
नीचन ऊंचनके वह (लक्ष्मी) जात है, जावत जात नेक लगाई॥
मेरे हूं देखत गई कितक घर, मैं न दियो पग पौर पराई।
कारण क्या कुछलेश पिया, जातें मुहि सिन्धु सुता (लक्ष्मी) कहलाई॥

इस लिये ऐसी चंचल लक्ष्मीका मान करना व्यर्थ है।

फिर यदि अपने तप (व्रत संयम) आदिका मान करते हो, तो तुम्हारे जैसा मूर्ख संसारमें और कोई भी नहीं है, क्योंकि तुम आत्मकल्याणका कारण जो तप उसे तुच्छ बड़ाई पानेकी इच्छासे नष्ट कर देते हो। और जब निरंतर तुम्हे अपने तप संयमके मानका ही ध्यान बना रहता है, तब तुम तप संयम आत्मध्यान कब करते हो और करोगे? जब तप ही नहीं करते हो, तो केवल कपट भेष बनाकर लोगोंको ठगते हो, अपने आत्माको भी ठगते हो। ऐसा तप करना व्यर्थ है, जिसमें मान पुष्ट किया जाय, इस लिये तपका मद करना भी व्यर्थ है।

इस प्रकार विचारकर उत्तम पुरुष मानको छोड़कर स्वाभाविक मार्दव गुण प्रकट करते हैं।

इस मार्दव (विनय) गुणसे आत्मिक-स्वाभाविक सुख तो मिलता है, किन्तु लौकिक सुख भी मिलता है। प्रगटमें नम्र (विनयी) का कोई शत्रु नहीं, और मानीका कोई मित्र नहीं होता है।

देखो, आंधी (पवन) के झकोरेसे बड़े बड़े मोटे वृक्ष मूल सहित उखड़ जाते हैं, किन्तु बेत कभी नहीं उखड़ता है। वह अपने विनय गूणसे वैसा ही बना रहता है ।

इस लिये निश्चयसे मानको त्याग करना, और व्यवहारसे अपनेसे, कुल, वय, विद्या, गुण, चातुर्य, तप, ज्ञान, आदिमें जो बड़े हैं उनका यथायोग्य विनय करना, तथा छोटोंमें दया व नम्रता रखना, अविनयी–विरोधी पुरुषोंमें मध्यस्थभाव रखना, यही मार्दव गुण है। अपने मुंहसे स्वप्रशंसा न करना और परकी निंदारूप निंद्य वाक्य नहीं कहना सो ही विनयका लक्षण है। बड़ों को नमस्कार करना, उच्चासन देना, समक्ष होकर बोलना नहीं, उनकी आज्ञाको मन, बचन, कायसे यथा-योग्य (शक्तिभर) पालन करना, वे चले तो उनके पीछे पीछे चलना, उनके गुणोंकी प्रशंसा करना, तथा उत्तम गुणोका अनुकरण करना, अपने ऊपर किये हुवे उपकारको नहीं भूल जाना इत्यादि, विनय है, इसलिये ऐसे उभय लौकिक सुख देनेवाले उत्तम मार्दव धर्मको धारण करना चाहिये।

इस प्रकार संक्षिप्तसे उत्तम मार्दवधर्मका वर्णन किया।

॥ इति उत्तम मार्दव धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम आर्जव ।

ऋजोर्भावः इति आर्जवः अर्थात्–सरल भावको आर्जवभाव कहते हैं । उत्तम विशेषण है, अर्थात् जिन भावोंमें किञ्चित भी छलकपट, दिखावट, बनावट, मायाचारी न हो वही भाव आर्जवभाव कहाते है । ये (आर्जव) भाव आत्माका स्वभाव ही है जो कि माया कषायके क्षय व उपशम होनेसे प्रकट होता हैं।

अर्थात् जिस समय जीवके मन, वचन और काय ये तीनों योवक्रता (मायाचार) रहित सरल हो जाते हैं, अर्थात् जो कुछ मनमें विचार होता हैं, उसे ही बचनसे प्रकाश करता है, और बचनसे जो कुछ प्रकाश किया हो या करे, वही (तदनुसार) ही करता है । इसीको आर्जव नाम आत्माका स्वभाव कहा जाता है ।

किन्तु जिस समय यह जीव आत्मबुद्धि रहित हुवा, अनात्मबुद्धिको धारण कर प्रवर्तन करता है, तभी यह अपने ईच्छित विषय वा कषायोंकी पुष्टितार्थ नाना प्रकारकी चेष्टा करता है । अर्थात् मनमें कुछ और विचारता है, बचनोंसे कुछ और ही प्रकट करता है तथा कायसे कुछ आचरण अन्य ही प्रकार करता है । इसके अंतरंग भावोंका भेद, सिवाय केवलज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानीके कोई भी यथार्थ नहीं जान सक्ते है । इसे ही (ऐसे ही भावोंको) माया कषाय कहते है ।

मायाचारी पुरुष प्रायः ऊपरसे मिष्ट भाषण करता है, सौम्य आकृति बनाता है, अपने आचरणोंसे लोगोंको विश्वास उत्पन्न कराता है। अपने प्रयोजन साधनार्थ विपक्षीकी भी हां में हां मिला देता है, किन्तु अवसर पाते ही वह अपने मन जैसी कर लेता है।

इसका स्वभाव बक् (बगुले) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अर्थात् जैसे बगुला पानीमें एक पांवसे खड़े होकर नासादृष्टी लगाता है और मछली ज्योंही उसके पास उसे साधु समझकर आती है, त्योंही वह छद्मभेषी झट्से उन्हें (मछलियोंको) पकड़ कर भक्षण कर लेता है।

मायाचारी सत्य तो बोलता ही नहीं है, और कदाचित् वह कभी सत्य भी कहे, तो उसका कोई विश्वास नहीं करता है।

यद्यपि वह अपने दोषों पूर्णरूपसे ढंकता है तो भी उसका कपटभेष अंतमें प्रकट हो ही जाता है, और कपटभेप प्रगट होते ही फिर कोई उसका विश्वास नहीं करते हैं।

मान लीजिये कि कुछ समय लोग विना जाने उसके पंजेमें भले ही फंस जांय और वह अपने आपको कृत समझ ले, किन्तु जैसे पानीके भीतर मिट्टीसे आच्छादित तूंबी मिट्टी गलकर छूटते ही उपर आ जाती है, वैसे ही कपट (मायाचार) बहुत समय तक नहीं छिप सकता है।

मायाचारीका विश्वास लोकमेंसे उठ जानेपर उसका व्यवहार बंद हो जाता है, जिससे उसे दुःखी होना पड़ता है।

मायाचारी मनुष्यको कभी भी शांति नहीं मिलती है, वह सदा उधेड़बुनमें लगा रहता है कि "किसीका बुरा करना, किसीको लड़ाना, किसीकी चुगली खाना, किसीका अपमान व पराजय कराना इत्यादि, उसे कभी सुखनींद नहीं आती है। वह निरंतर ही चिन्ताग्रस्त रहता है और चिन्ता-बाजको सुख कहां?

ये (मायाचारी) आप तो दुःखी हैं ही किन्तु अन्यको दुःखी करनेमें ही हर्ष मानते हैं। ये लोग शत्रुसे भी भयंकर है। क्योंकि शत्रु तो प्रगट रूपसे धावा करके मारता है, जिससे कि हम सदा शंकित (सावधान) रह कर अपनी रक्षा भी कर सकते हैं, परन्तु इन मीठे बोलनेवाले अस्तीनके सांप (माया-चारियों) से बचना बहुत कठिन है। कहा है—

अरकसिया (करोंत) के मुख नहीं, नहीं गौंचके दंत।
जो नर धीरे बोल हैं, तीनों घात करंत॥

क्योंकि ये लोग सदा मीठी मीठी बातोंमें अंतरंगका हाल जानकर प्रगट कर देते हैं। ये कभी किसीसे मित्रता नहीं करते हैं। जहां अपना मतलब होते देखा कि झट् वहां जा मिले। अपने बचनकी स्थिरता तो इनको होती ही नहीं।

झूठ बोलना ही इनका उद्देश्य है, इस लिये सदा ऐसे लोगों-से बचते रहना ही ठीक है।

यद्यपि ये लोग अपने प्रयोजन व कौतुकवश दूसरोंको घात पहुंचानेकी चेष्टा करते हैं, सो ठीक है, परन्तु औरों-का घात तो उनके पूर्वकृत कर्मानुसार होवे और नहीं भी होवे, किन्तु इस (मायाचारी) का तो घात सदा ही हुवा करता है। जैसे दर्पण (कांच) में मुंह देखने पर जैसा टेढ़ा सीधा करके देखो वैसा ही दिखने लगता है। ठीक, यही हाल मायाचारियोंका होता है। वे औरोंके लिये कुवा खोदते है, परन्तु उसमें आप ही अनायास गिर जाते हैं। ओसका मोती कब तक स्थिर रहेगा ?

एक समय एक कौवा (काग) ने मौरोंके पंखें पहिन कर अपने आपको मौर प्रकट करता हुवा स्वजातिय कौवोंके पास जाकर उन्हें भला बुरा कहना आरंभ किया। वे बिचारे इसकी मूर्खता पर चुप हो रहे। पश्चात् यह मौरोंके झुंडमें जाकर अकड़ते फिरने लगा। मौरोंने इसे तुरंत काग समझकर खूब ही चोंचोंसे इसकी खबर ली। और सब नकली पर नोंच डाले। तब मारसे व्याकुल हुवा पीछे स्वजातियोंके पास आया और पूर्ववत् मिलना चाहा, किन्तु उन्होंने भी इसकी मौरोंके समान ही खूब खबर ली। तब बिचारा महा दुःखी होकर जन्म पर्यंत जातिच्युत हुवा एकला ही वनमें मृत्युकी प्रतीक्षा करता हुवा मर गया।

तात्पर्य—कपटजाल कभी न कभी टूटता ही है और फिर उसके टूटनेपर कपटीकी बहुत दुर्दशा होती है।

जब इसी लोकमें कपटी दुःख मारन ताड़नादि वेदना सहता है: तो परभवकी तो कहना ही क्या है? भगवान उमास्वामीने कहा है—" मायातैर्यग्योनस्य " अर्थात् मायाभावोंसे तिर्यञ्चगतिका बंध होता है। वहांपर यह जीव और भी अनेक प्रकार दुःख भोगता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, छेदन, भेदन, डंस, मच्छर, भारवहन, मारन, ताड़नादि दुःख सहना पडता है।

यदि सबल हुवा तो औरोंको मारकर खाने लगा, शिकारियों द्वारा आप भी मारा गया। यदि निर्बल हुवा तो और इसे ही मारकर खा गये। यदि पालतू पशुवोंमें हुवा तो सवारीमें जोता गया, युद्धमें प्रेरा गया, नाक, मुंह, जिव्हा, लिंगादि छेदन किये गये, भार लादा गया, शक्तिहीन होने पर कषाईके हाथ बेचा गया, देवी देवतावोंको बलि दिया गया, यज्ञमें होम दिया गया, यह तो पंचेन्द्री समनस्ककी कथा हुई। अब चौइन्द्री, तीनइन्द्री, द्वेइन्द्री एकेन्द्रीकी तो कहना ही क्या है? जब बड़े बड़े उपकारी जीवोंहीकी दया नहीं देखी जाती तो दीन क्षुद्र जीवोंकी तो कौन रक्षा करता है?

हाय! ऐसे पशुगतिके दुःख मायाचारीको भोगना पड़ते हैं।

यही मायाभाव जीवको अनन्त संसारमें भ्रमण कराते हैं, इस लिये ये कुभाव सदैव त्यागने योग्य हैं। उत्तम पुरुष ऐसे कुभावोंको त्याग कर स्वभावों (आर्जव भावों) को प्रगट करते हैं। और मन, बचन, कायकी सरलता करके अनादि कर्म बन्धनको काटकर अविनासी सुखोंको प्राप्त होते हैं। इस लिये सदा स्वपर हितकारी उत्तम आर्जव धर्मको धारण करना चाहिए। इस प्रकार उत्तम आर्जवधर्मका संक्षेपसे वर्णन किया।

॥ इति उत्तम आर्जव धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम सत्य।

सते हितं यत् कथ्यते तत् सत्यम्=अर्थात् भलाईके लिये जो बोला जाय उसे ही सत्य कहते है। और भलाई जब ही हो सकती है जब कि वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही न्यूनाधिकता रहित कहा जाय, इस लिये यथार्थ बोलना ही सत्य बोलना हो सकता है। उत्तम शब्द गुणवाचक है, वह (उत्तम) बताता है कि इस कथनमें अपनी ओरसे कुछ भी न मिलाकर, न घटाकर जैसाका तैसा ही कहा गया है। अपनी ओरसे न्यूनाधिक जब ही किया जाता है, जब कि कुछ रागद्वेष हो, या विषयकषाय पुष्ट करना हो, क्योंकि अपेक्षा रहित पुरुष किस लिये अपने निर्मल आत्माको बात बनानेकी व्यर्थ की उलझनमें डालकर दुःखी करेगा? अर्थात् नहीं करेगा।

इस लिये इससे तात्पर्य यह हुवा कि विषय, कषाय, राग और द्वेषादि भाव आत्माके स्वभाव नहीं है और झूठ (असत्य) बिना कषायविषयादिकके बोला नहीं जाता है, इस लिये झूठ भी परभाव हुवा अर्थात् झूठ भी आत्माका स्वभाव नहीं है। जो **आत्माका स्वभाव नहीं है वह धर्म नहीं है,** इस लिये जब आत्मासे रागद्वेषादि भाव अलग होते हैं, व इनका क्षय वा क्षयोपशम व उपशम होता है, तभी आत्माका स्वभाव प्रगट होता है। स्वभावके प्रगट होने पर ही जो वस्तु जैसी है, वैसी ही कही जा सकती है और उसीको **सत्य** कहते है।

जीव मात्रका कर्तव्य है कि वह सत्य बोले, क्योंकि व्यवहारमें भी **सत्यके बिना कार्य नहीं चल सकता** है। लोकमें जिसके वचनकी प्रतीति नहीं है, वह निंद्य समझा जाता है। लोग उससे घृणा करते हैं। कोई भी विश्वास नहीं करता। उसका सब व्यवहार अटक जाता है। आजीवका नष्ट हो जाती है। कोई भी उसकी विपत्तिमें सहायक नहीं होता है। कहा है—

" मिथ्याभाषी सांच हुं, कहे न माने कोय।
भांड पुकारे पीर वश, मिस् समझे सब कोय ॥ "

इत्यादि अनेक हानियाँ हैं।

झूठ बोलनेके कई कारण है। कोई **भयसे** बोलता है, तो कोई **लोभसे** बोलता है। कोई **मोहसे** बोलता है, तो

कोई वैरवश बोलता है । कोई आशावश, तो कोई क्रोध-वश । कोई मानवश, कोई लज्जावश । कोई कौतुक (हास्य)-वश, कोई केवल मनोरंजनके ही लिये, इत्यादि कारणोंसे प्रायः झूठका व्यवहार होता है ।

यद्यपि बोलते समय बोलनेवालेको थोड़ा बहुत आनन्द आ जाता है अथवा वह झूठ प्रगट होने तक लोगोंमें उसकी सत्यवत् प्रतीत होनेसे कथंचित् विषय और कषायोंकी पुष्टि भी हो जाती है, तो भी प्रगट होने पर सब पोल खुल जाती है और फिर उस झूठके साथ सत्य भी झूठ ही समझ लिया जाता है । एक वार भी झूठ पकड़ जाने पर सदाके लिये विश्वास उठ जाता है ।

लोग कहते है कि झूठ विना व्यवहार नहीं चल सकता है, परन्तु यह कल्पना झूठ है, कारण यदि झूठ विना व्यव-हार न चलता, तो सत्यकी आवश्यक्ता ही न रहती । नहीं, नहीं, लोग सत्यका नाम भी भूल जाते, परन्तु देखा जाता है कि जो लोग झूठ बोलते हैं, अपनी झूठी बातका प्रचार करना चाहते हैं । झूटसे द्रव्योपार्जन करना चाहते हैं । मानादि कषायोंको पुष्ट करना चाहते हैं या मनोरंजन हास्यादिक करना चाहते हैं, वे भी तो लोगोंमें अपनी झूठको सत्यरूपसे प्रगट करते हैं । लोगोंका विश्वास अपने ऊपर खींच लेते हैं, और फिर ओटमें हो कर ही अपने इच्छित विषयकी पूर्ति करते हैं ।

यदि पाहिलेसे ही लोगोंको यह प्रकट हो जाय कि यह झूठ है, तो फिर उसके जालमें फंसे ही कौन? क्या कोई संसारमें ऐसा है कि जो आंखसे देखता हुवा और जानता हुवा कुवेंमें गिर जाय? और कदाचित् कोई भूलसे या और किसी प्रकार गिर भी जाय, तो क्या वह चतुर कहा जा सकता है? क्या वह सुखी हो सकता है? नहीं, कभी नहीं, कभी नहीं। तात्पर्य—जो झूठ भी संसारमें चल जाता है और उस अभ्यासी जो कुछ भी लाभ उठा लेते या स्वार्थ साधन कर लेते हैं, वह सब सत्य ही की ओटमें होता है।

देखो, ठग (धूर्त) लोग पहिले नमूना उत्तमसे उत्तम वस्तुका दिखाते हैं और फिर पीछेसे कम दामकी वस्तु मिलाकर माप तौल देते हैं। यदि खरीददारको पहिलेसे बिदित हो जाय तो वह लेवे ही नहीं और कदाचित् आवश्यक्तानुसार लेनेको लाचार हो, तो उतने दाम (मूल्य) भी न दे। यदि मूल्य भी दे तो जितनी लेना चाहता था, कितने ही अंश कम उससे लेवे। तात्पर्य—उसकी विक्री ठीक२ नहीं होगी।

प्रायः देखा जाता है कि ऐसे धूर्त अधिकतर पर्य्यटन ही किया करते हैं, अर्थात् स्थिर होकर एक जगह दुकान (कारखाना) नहीं खोल सकते हैं, क्योंकि स्थिर कारखाने तो विश्वासपात्र पुरुषोंके ही चल सकते हैं, धूर्तोंके नहीं। वे तो हरजगहसे अपनी पोल खुलनेसे पहिले ही नव दो ग्यारह

होते अर्थात् अन्यत्र चल देते हैं । कारण प्रगट होनेपर राज-दंड मिलनेकी भी पूरी पूरी संभावना है । वे सदैव शंकित रहते हैं कि कहीं कोई मेरी पोल न खोल दे, और जो शंकित रहे वह सुखी कैसा ?

तात्पर्य--झूठा सदा दुःखी रहता है और इसलिये सुखी होनेके लिये सत्य बोलना चाहिये ।

झूठ बोलनेवालेको जिव्हाछेदन, ताड़न, मारन, फांसी, देशनिकाला, कारागार (ज़ेल) आदि नाना प्रकार दंड होते हैं।

इसके विपरीत सत्यवादीका ठौर२ आदर होता है । सब उसकी प्रतीति करते हैं, चाहते हैं। देखो, महात्मा रामचन्द्रजी, महात्मा धर्मराजजी (युधिष्टर) आदिके बचनोंका प्रभाव शत्रुपक्ष पर भी पड़ता था । महाराज हरिश्चंद्र, महाराज बलि आदि अपने सत्यवादी होनेहीसे लोकमें अमर हो गये, देवोंसे स्तुत्य हुवे । महाराज दशरथ, रतिपति वसुदेव अपने बचनों-हीसे चिरस्मरणीय हुवे हैं । आजभी एक बचनकी प्रतीति पर ही हुंडी पुरजादिसे करोडोंका व्यवहार होता है । जहां तक प्रतीति है वहांतकही सब कुछ है । दिवाला निकलने पर मुंह काला हो जाता है ।

राजा वसु झूठके कारण ही तीसरे नर्कमें चला गया और कौरव, लोकमें निंद्य हो गये।

थोड़ी भी झूठ कभी२ प्राण तक घात कर डालती है । एक स्थानमें कोई सेठ था, उन्होंने एक नौकर रक्खा। नौकरने

यह बचन ले लिया कि सालभर आपका काम तनमनसे सच्चा करेंगे। परन्तु एक दिन वर्षमें एक वार झूठ बोलेंगे। सेठजीने स्वीकार कर लिया। यह सोचकर कि एकवार झूठ बोलनेमें क्या हो जावेगा? साल भर तो अच्छा कार्य करेगा इत्यादि। निदान नौकरने साल भर कठिन परिश्रमद्वारा सेठजीको प्रसन्न किया। सालके अंतमें सेठसे बोला—"कल मैं झूठ बोलूंगा।" सेठने सुनकर भुला दिया।

नोकरने दूसरे दिन सबेरे सेठानीसे कह दिया—सेठ व्यभिचारी है और वह अमुक वेश्या के यहाँ जाता है, इस लिये आज रातको तुम उस्तरा (छुरा) से सोते समय सेठजीकी एक ओरकी दाढ़ी व मूंछ मूंड देना। फिर जब वे वहाँ जावेंगे तो वेश्या उन्हें पहिचानेगी नहीं, तब पीछे आंयगे और उनका सब भेद खुल जायगा, तब हंसीका अवसर होगा और सेठजी यह निंद्यकर्म छोड़ देंगे।"

सेठानीके सहमत होने पर सेठजीके पास गया और बोला—"स्वामी! मैं आपका सेवक हूं, इस लिये सब प्रकार आपकी भलाईमें रहना मेरा कर्तव्य है। आपके प्राण अपने प्राणोंसे भी प्रिय जानता हूं, इस लिये निवेदन करता हूं कि आज रात्रिको आप सचेत रहें, प्राणोंका भय है"।

सेठके पूछने पर बोला—"स्वामी! सेठानीजी चुपकीसे किसी पुरुषको बुलाती हैं। आज तक मैंने यह बात छुपा

रखी थी, परन्तु जब प्राणों पर चोट आई तब कहना ही पड़ा, फिर पूछने पर। आज सेठानी अपने प्रेमीके आदेशानुसार उस्तरेसे सोते समय आपका गला काटेंगी, और पहिले परीक्षाके लिये आपकी दाढ़ी और मूंछें खूब पानीसे तर करेंगी। जब आपको अचेत सोया जानेंगी, झट्से उस्तरा निकालकर काम तमाम कर देंगी इत्यादि। इस प्रकार कह दिया।

जब रात्रि हुई तो सेठजी बगलमें नंगी तलवार छुपा कर पलंग पर पड़ रहे। सेठानी भी अपना उस्तरा और पानी रख पड़ रहीं। निदान मध्यरात्रिको सेठानीने सेठकी दाढ़ी भिजाकर ज्योंही छुरा निकाला कि सेठजी झट्से तलवार लेकर उठ बैठे। चोटी पकड़कर मारना ही चाहते थे कि सेठानीके चिल्लानेसे फेरीवाला सिपाही ईकदम आ गया और हल्ला मचा दिया। जब सबेरा हुवा और इस विषयकी खोज की गई, तो नौकरने सच बात कह दी। सेठ सेठानी भ्रांति रहित हो गये।

तात्पर्य–एकवारकी झूठने यहां तक चोट पहुंचाई तो निरंतर झूठ बोलनेसे तो कहना ही क्या है? निदान नौकर नौकरीसे अलग किया गया, दूसरे लोग भी उससे हिचकने लगे। उसका सब कठिन परिश्रम व्यर्थ गया और ईनाम यह मिली कि आजीवका भ्रष्ट हो गई, फिर उसे किसीने भी नहीं रखा। बिचारा भूखसे, प्याससे पीड़ित हो भिक्षा मांगते मांगते मर गया।

इसलिये झूठ उभयपक्षमें हानिकर है। और भी देखो, यदि घरका पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन आदि कोई भी झूठा हो, तो उसका विश्वास न करके करोड़ोंकी सम्पत्ति गैरआदमी (मुनीम, रोकड़ीया, दीवान, भंडारी) को सौंप देते हैं। यह सत्यहीका प्रभाव है। कहा भी है-

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप*॥ (*परमात्मा)

इसलिये कदाचित् सच बोलनेमें तुरंत प्रगटरूपसे कुछ आपत्ति भी आवे, भय भी होवे, तो भी अपने सत्य प्रणको नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि आपत्ति भी भलाईके लिये ही आती है। कहा है-

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत्ति काल परखिये चारी॥

अर्थात्-आपत्ति कसौटी है, इससे ही पुरुषकी दृढ़ताकी परीक्षा होती है। सोना जितना आँच देकर ताया जाता है, कसौटी पर कसा जाता है, उतनी ही उसकी कीमत बढ़ती है, ठीक पुरुषका भी वही हाल है। परीक्षा पर परीक्षा होनेसे वह जगत्पूज्य हो जाता है। और जो परीक्षामें भूला (चल गया), तो फिर घूरेका कूकर हो जाता है, इसलिये सदा दृढ़ सत्यव्रती होना चाहिये।

देखो, एकेन्द्री, दोइन्द्री, तीनेन्द्री, और चारेन्द्री तथा असैनी पंचेन्द्री आदि जीवोंके तो भाषा वर्गना (बोलनेकी शक्ति) ही नहीं है और सैनी पंचेन्द्री पशुके यद्यपि बचन-वर्गना है तोभी साक्षर बचनशक्ति नहीं है । मनुष्योंमें भी बच्चे दो तीन वर्ष तक तो गूंगे ही रहते हैं, और कई तो आजन्म ही गूंगे रह जाते हैं, इसलिये बड़ी काठिनतासे प्राप्त की हुई यह वाक्य (वचन) शक्ति असत् रूप (मिथ्या भाषण) करके ज्यों त्यों खो देना बहुत बड़ी भारी भूल है ।

किसी भी बातको विपर्यय कहना मात्र ही झूठ नहीं है, किन्तु जिस बचनसे अपने आपको व परको पीड़ा (कषाय) उपज आवे, वह सब झूठ है । निंदा करना, हास्य करना, परस्पर कलह करना वा करा देना, गुप्तवार्ता किसीकी प्रगट करना, खोटा लेख लिखना, राजाज्ञा भंग करना, शब्दोंका अर्थ बदल देना, हठवाद करना, पापीजनोंका पक्ष लेना और धर्मात्मावोंसे विरोध करना, शास्त्रोंको दूषित व स्वार्थी जनों द्वारा सम्पादित बताना, स्वप्रशंसा करना, झूठी साक्षी भरना, भंड वचन बोलना (गाली देना), भोजनकथा, स्त्रीकथा, देशकथा, राज्यकथादि (विकथा) करना, विषय और कषायोंमें फसानेवाला उपदेश देना, न्याय विरुद्ध बोलना इत्यादि, औरभी अनेक प्रकारका झूठ होता है, जिससे मनुष्य मात्रको बचना चाहिये । सत् पुरुष अवसर देखकर झूठ बोलने-

के बदले मौन धारण कर लेते हैं। जहां पर सत्य बोलने अर्थात् जैसाका वैसा कहनेमें भी सत्यको झूठ समझे जानेकी संभावना हो, या उससे अपने आप व परको अन्यागपूर्वक पीड़ा हो जानेकी संभावना हो, वहांपर मौन ही रखना श्रेय समझा जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार न्यायपूर्वक हित-मित वचन बोलना सो सत्य वचन हैं।

इस उभय प्रकार (लौकिक और पारलौकिक) के दुःखोंसे निवृत्त होने व सुखकी प्राप्तिके लिये सत्य वचन ही ग्रहण करना योग्य है।

सत्यमेव सदा जयति—सदा सत्यकी ही जय होती है।

इस प्रकार उत्तम सत्य धर्मका संक्षपसे वर्णन किया।

॥ इति उत्तम सत्यधर्मांगाय नमः ॥

उत्तम शौच।

शुचेर्भावः इति शौचः—अर्थात् भावोंकी शुद्धिताका होना सो ही शुद्धता है। उत्तम विशेषण है, जो कि किंचिन्मात्र भी मलिनताके अभावका सूचक है। यह शौचधर्म आत्माका ही स्वभाव है। कारण शौच धर्म अंतरंग आत्मासे लोभादि कषायोंके अलग हो जाने पर प्रगट होता है। लोभादि कषाएँ-

पर निमित्तसे उत्पन्न होती है, इसलिये ये परभाव है। परभावोंके अभाव होनेपर जो स्वभावकी प्रगटता सोही निश्चय शौचधर्म है।

व्यवहारमें शौच, बाह्यशुद्धिको कहते है, अर्थात् देह (शरीर), गेह (घर), बसन (वस्त्र—कपड़े), भूषण (शृंगार की वस्तुवें) आदिकी शुद्धिताको शौच कहते हैं, परंतु अंतरंग शुद्धि बिना बाह्यशुद्धि विशेष प्रयोजनीय नहीं है। वह केवल मद्यके भरे हुवे बाहिरसे साफ सुधरे हुवे घड़ेके समान है। अर्थात् जिस घड़ेमें मद्य (दारू—शराब) भरी हुई है, उस घड़ेको बाहिरसे खूब मलमलकर धोनेपर भी दुर्गंधि दूर नहीं होती है।

इसी प्रकार इस रज (माताका रुधिर), वीर्य (पिता-का शुक्र) के पिंडरूप, मल, मूत्र, रुधिर, पीब, मांस, मज्जा आदिकी घृणित थैली अर्थात् शरीरको नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंसे धोनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता है, किन्तु इसके स्पर्श मात्रसे सम्पूर्ण शुद्ध व सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। निरंतर इस शरीरसे आंख, नाक, कान, मुंह, गुदा, योनि, लिंग, रोम आदि द्वारोंमेंसे दुर्गन्धित पदार्थ (मल) ही झड़ता रहता है। केशर, कस्तूरी, कर्पूर आदि पदार्थोंको भी मलरूप कर डालता है। ऐसा दुर्गन्धित, घृणित महा अपवित्र शरीर जलादिकसे धोनेपर कैसे पवित्र हो सकता है? कदापि नहीं, कदापि नहीं, यह सदा मैला है।

ऐसे मैके अपवित्र शरीरको शुद्ध करके (धो करके) शुद्ध (पवित्र) मान लेना नितान्त भूल है, इसी लिये साधुजन, जिन्होंने अपने अखंड सच्चिदानन्द स्वरूप परम शुद्धात्माको इस शरीरसे सर्वथा भिन्न जानकर इसे छोड़ रक्खा है, वे इसकी कुछ भी अपेक्षा न करके अपने अनंत दर्शन, ज्ञान, सुखमयी चैतन्य स्वरूपमें मग्न रहते हैं। वे इस घृणित शरीरके संस्कार करनेमें अपना समय नहीं बिताते हैं । वे जानते हैं कि प्रथम तो यह शरीर अपवित्र है, जो कदापि शुद्ध हो ही नहीं सकता है। जैसा कोयला दूधसे धोनेपर भी कभी सफेद नहीं होता है । दूसरे यह आयुकर्मके आधीन अस्थिर (नाशवान) है। तीसरे जरा (बुढ़ापा) रोगों (व्याधियों) से पीड़ित है, जड़ है, अचेतन है। अनेक प्रकारसे सुरक्षित रखनेपर भी सुरक्षित नहीं रह सकता । न कभी साथ देता है। कहा है—प्रश्नोत्तर चेतन और कायका।

चेतन—सोले शृंगार विलेपन भूषणसे निशवासर तोहि सम्हारे।
पुष्टि करी बहु भोजन पान दे धर्म अरु कर्म सबैही विसारे॥
सेये मिथ्यात् अन्याय करे बहुत तुझ कारण जीव संहारे।
भक्ष गिन्यो न अभक्ष गिनो अब तो चल संग तू काय हमारे॥१॥

काया—ये अनहोनी कहो क्या चेतन भांग खाईके भये मतवारे।
संग गई न चलूं अब हू लखि ये तो स्वभाव अनादि हमारे॥
इन्द्र नरेन्द्र धनेन्द्रन के नहिं संग गई तुम कौन बिचारे।
कोटि उपाय करो तुम चेतन तो हूं चलूं नहिं संग तुम्हारे॥२॥

तात्पर्य–जड़ और चेतन ये दोनों परस्पर विरोधी, तब अनमेलका संग कैसा ? ऐसा समझ कर वे इसकी कुछभी अपेक्षा न करके सोचते हैं–

यावन्नग्रस्यते रोगैः यावन्नाभ्येति ते जरा ।
यावन्न क्षीयते चायुस्तावत् कल्याणमाचर ॥

अर्थात्–जब तक रोगोंने नहीं घेरा है, बुढ़ापा नहीं आया है, और आयु क्षीण नहीं हुई है तब तक कल्याण कर लेना चाहिये । क्योंकि–

सदा दौर दौरा जु रहता नहीं, गया वक्त फिर हाथ आता नहीं, इत्यादि यही कारण है कि साधु (तपस्वी, ऋषि, मुनि.) आदिका शरीर ऊपरसे मलिन दिखता है, किन्तु अंतरंग शुद्ध होता है ।

संसारी गृहस्थियोंका चरित्र इससे बिलकुल उलटा है । अर्थात् वे केवल शारीरिक शुद्धिको ही शुद्धि मान कर गंगादि नदियोंमें नहाकर अपने २ को कृतकृत्य मान बैठते हैं परन्तु यह भूल है, यद्यपि शारीरिक शुद्धि (बाह्यशुद्धि) गृहस्थियोंको अत्यावश्यक है । वह उन्हें रखना ही चाहिये, क्योंकि देह, गेह, भोजनादि बाह्यशुद्धि बिना प्रथम तो उनका व्यवहार मलिन हो जाता है, नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो जाते हैं, चित्तकी प्रसन्नता नष्ट हो जाती है, सदा आलस्य आया करता है और लोकनिंद्य भी हो जाता है इत्यादि ।

और सिवाय इसके बाह्यशुद्धि गृहस्थोंको अंतरंगशुद्धिका भी कारण है तो भी अंतरंगकी शुद्धि विना विशेष लाभकारी नहीं है, इसलिये बाह्यशुद्धिके साथ साथ, अंतरंग शुद्धि अत्यावश्यक है ।

सबसे अधिक मैलापन आत्माके लिये लोभ है । यह मुनियों तकको एकादशम गुणस्थानसे (११)गिरा कर नीचे पटक देता है । कहा भी है—" लोभ पापका बाप बखाना " लोभ पापका बाप है । लोभी पुरुष सब न करनेयोग्य कार्य करता है । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि किसीसे नहीं डरता है । वह निरंतर जिसतिसप्रकार तीन लोककी सम्पत्तिको अपनी करना चाहता हैं, परन्तु विना पुण्यके कुछ भी पा नहीं सकता है । फिर भी लोकमें तो सम्पत्ति जितनी है, उतनी ही है और रही है तथा रहेगी भी, और प्रत्येक जीवको तृष्णा इतनी है कि कदाचित् सब सम्पत्ति मिल भी जाय, तो उस तृष्णाके एक भी असंख्यातवें अंशकी पूर्ति न हो, फिर जीव संसारमें अनन्तानन्त है, तब कैसे कहा जाय कि वह सम्पत्ति कभी भी किसीको मिलेगी, और वह स्वामी हो सकेगा ? वह तृप्त हो सकेगा ? कभी नहीं, कभी नहीं।

इसलिये ऐसे लोभ तृष्णाको छोड़नेवाले परम वीतरागी पुरुष ही सुखी हुवे हैं और हो सकते हैं । शेष संसारीजीव निरंतर तृष्णाग्निमें जला करते हैं । जहां तक आशा, तृष्णा,

और चाह लगी रहती है, वहां तक जीव कभी सुखी नहीं हो सकते हैं । संतोषी ही सदा सुखी होता है, संतोषी ही उच्च और लोभी (भिक्षुक) नीच होता है । कहा है—

देव कहे सो नीच है, नांहि करे महँ नीच ।
लेव कहे ऊंचा पुरुष, नहीं लेय महँ ऊंच ॥

संसारमें जभी तक किसीका आदर रहता है, जब तक वह कुछ किसीसे मांगता नहीं है, और ज्योंही कुछ किसीसे मांगा कि उसी समय वह लोगोंकी दृष्टिसे उतर जाता है । लोभी पुरुष चाहे जहां नीच उच्च सबके साम्हने दीन हो जाता है । लज्जा तो उससे कोसों दूर चली जाती है । शीत, उष्ण, भूख, प्यास, सब कुछ सहता है । स्त्रीपुत्रोंसे विलग हो जाता है । सब लोगोंसे वैर बढ़ाता है । देश विदेश भटकता है । भक्षाभक्ष खाता है । कभी पेट भर अनाज नहीं खाता है न तनभर कपड़े पहिनता है । निरंतर जोड़जोड़ मर जाता है । आप तो खर्चना जानता ही नहीं, परन्तु औरोंको खर्चते देखकर घबरा जाता है । जैसा कहा है—

प्रश्न— नारी पूछे सूमकी, काहे बदन मलीन ।
क्या तुम्हारो कुछ गिर गयो, या काहूको दीन॥१॥

उत्तर— सूम कहे नारी सुनो, गिरो न कुछ नाहिं दीन ।
दे तन देखो और को, तासों बदन मलीन ॥२॥

इस प्रकार लोभीकी दशा होती है। यद्यपि संसारके प्राणी प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब उत्पन्न हुवा था तब दिगंबर (नग्न) था, और जाता है, तब भी सब यहीं पड़ा रह जाता है। एक तागा भी साथ नहीं जाता है, तब तृष्णा किसकी ? यह सब कर्मकृत उपाधि है इसलिये ऐसे लोभ तथा तृष्णादिसे अंतरंग आत्माको रहित करना और बाह्य शरीरादिकी शुद्धि करना यही शौचधर्म सब जीवोंको उपादेय है।

इस प्रकार उत्तम शौच धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया।

॥ इति उत्तम शौच धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम संयम ।

इंद्रिय निरोधो संयमः—अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना सो संयम है। उत्तम शब्द विशेषण है, अर्थात् किसी भी प्रकारके छलकपट वा इच्छाके बिना जो भले प्रकारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना अर्थात् विषयोंका सेवन नहीं करना, सो संयम है।

यह संयम आत्माका स्वभाव है, क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं जो नामकर्मके अनुसार क्षयोपशम लब्धिसे प्राप्त हुई है और इनके विषयभी जड़ हैं, जो उदयजनित कर्मानुसार प्राप्त होते हैं, और इनको भोगनेवाला भी जड़ ही हैं। जीव

चैतन्य स्वभाव है। इन कर्मजनित जड़ (पुद्गल) की उपाधियोंसे भिन्न है। सदानन्द अपने ही दर्शन ज्ञानमयी स्वरूपमें रमण करनेवाला है। वह इस जड़ (शरीर) के साथमें विषयोंकी इच्छासे अपने स्वरूपको भूला हुवा, इस अनादि संसारमें सुर, नर, नरक और पशुगति सम्बन्धी चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता रहता है, परंतु जिस समय यह अपने स्वरूपको बिचारता है, तब शरीरादि समस्त जड़ पदार्थोंसे भिन्न अपने ज्ञायक स्वरूपको देखता है और इन्हें (इन्द्रियोंके विषयोंको) कर्मकृत उपाधि समझ कर उनसे अपना मुंह मोड़ लेता है अर्थात् उन्हें छोड़ देता है, तब ही अपना सच्चा ज्ञायक स्वरूपका लाभ करके स्वानुभव रूपी सुखमें मग्न हुवा परम वीतराग अवस्थाको प्राप्त होता है, तब ही सच्चा सुखी कहा जाता है।

किन्तु जब तक इन्द्रियोंकी चंचलता विषयोंकी ओर लगी रहती हैं अर्थात् इन्द्रियां विषयोंको चाहती व भोगती रहती है वहां तक स्वरुपका अनुभव हो नहीं सकता है, इसलिये इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही अर्थात् उत्तम संयमको प्राप्त होना ही, स्वभावको प्राप्त होना है।

स्वभावकी प्राप्ति होना सोही आत्माका धर्म है, इस लिये संयम धर्म आत्माका है और सुखाभिलाषी जीवोंको इसे अवश्य ही धारण करना चाहिए।

संसारी जीवोंको यद्यपि विषय सेवन करनेमें ही आनन्दानुभव होता है और इस लिये उन्होंने अपना यह सिद्धान्त निकाल रक्खा है–

" यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनम् कुतः॥ "

अर्थात्–जब तक जीना सुखपूर्वक (इन्द्रिय भोग भोगते हुवे) जीवे, चाहे ऋण (कर्ज़) करना पड़े, तोभी चिन्ता नहीं, ऋण लेकर भी घी पीवे, शरीरके भस्मीभून होनेपर फिर आवागमन कहांका है? इंग्रेजीमें कहते हैं Eat, drink and be merry इत्यादि, परन्तु उनका यह बिचार ठीक नहीं है, कारण प्रथम तो ये विषयसामाग्रियां इच्छानुसार प्राप्त ही नहीं होती है। कदाचित् कर्मयोगसे थोड़ी बहुत मिलती भी है, तो निरंतर चाह बढ़ती जाती है, कभी तृप्ति होती ही नहीं है। जैसे अग्निमें ज्यों ज्यों ईंधन ड़ाला जाता है त्यों त्यों वह और और प्रज्वालित होती है तैसे ही विषयोंको सेवन करते हुवे और निरंतर चाह बढ़ती जाती है तथा जैसे खाज (कंडू रोग) को खुजानेसे यद्यपि प्रथम सुख जैसा मालूम होता है, परंतु पीछे और भी अधिक वेदना बढ़ जाती है और खुजानेकी लालसा भी कम नहीं हो जाती है, वैसे ही विषयभोग पहिले तो सेवन करते हुवे अच्छेसे लगते हैं, परंतु अंतमें फल भोगते हुवे दुःखदाई मालूम पड़ते हैं।

कई आदमी आतशक (गर्मी), अमृतबिन्दु (सुजाक) आदिकी बीमारियोंसे पीड़ित देखे जाते हैं । विषयी जीवोंके हाथ पांव शिथिल हो जाते हैं, आंखें अंदर घुस जाती हैं, ज्योति मंद हो जाती है, कानोंसे कम सुनाई देने लगता है, नाकसे श्लेष्म बहा करता है, मुंहसे लार टपकने लगती है, हड्डी पसली दिखने लग जाती हैं, रक्त, मांस, वीर्य सब सूख जाता है, द्रव्य नाश हो जाती है, लोकसे प्रतीति उठ जाती है, सब लोग उनसे घृणा करने लगे जाते हैं, मक्खियां उड़ाते हूवे घरोंपर भीख मांगने पर भी खाना नहीं मिलता है । कहा है—

यौवन था तब रूप था, ग्राहक थे सब कोय ।
यौवन रूप गयो जबै, बात न पूछे कोय ॥१॥

और भी अनेक प्रकारकी दुर्गति विषयी जीवोंकी होती है ।

विषयोंका सुख क्षणभंगुर है । फिर भी यदि विषयोंमें कदाचित् क्षणस्थायी सुख समझा जाय, तो भी असंगत है, कारण एक जीव जिस पदार्थको भला मानता है, दूसरा उसीको बुरा समझता है, तब कैसे कहा जाय, कि विषयोंमें सुख है ?

यदि विषयोंमें सुख होता, तो फिर उनके सेवन करनेका फल दुःखदाई क्यों होता ? देखो, कहा है—

अली, मातंग, मृग, सल, मीन, विषय इक इकमें मरते हैं ।
नतीजा क्यों न पावेंगे, विषय पांचों जो करते हैं ॥

अर्थात भौंरा (नाशिका वश), हाथी (मैथुन वश), मृग (कान वश), पतंग (आंख वश) और मछली (जिव्हा वश) ये पांचों एक एक इन्द्रियके आधीन होकर प्राण खो बैठते हैं। तब जो पांचों वश हैं वे क्यों नहीं दुःख भोगेंगे ? अवश्य ही भोगेंगे।

इसलिये ये विषय सुखाभिलाषी पुरुषोंको छोड़ने योग्य हैं। जो मोही जीव इनका परिणाम देखते हुवे भी नहीं छोड़ते हैं, वे पुरुष आंख रहते हुवे भी अंधेके समान संसार गर्त (गड़हे)में गिरते हैं। और अपने साथ अनुयायियोंको भी दुःख भुगवाते हैं। कहा है—

" आप डुबन्ते पांडे, ले डूबे यजमान।"

यथार्थमें जो पुरुष अन्य जीवोंको विषय कषायोंसे छुड़ाकर सन्मार्गमें नहीं लगाते, न आप सन्मार्गमें लगते हैं, किन्तु उल्टा उन्हें विषयोंमें फंसानेके लिये उत्तेजना देते, सिखापन देते हैं। ऐसे पुरुष प्रगट रूपसे हित प्रतीत होते हैं, परन्तु वे उनके परम शत्रु हैं, कारण जो बात विना सिखाये ही सीख ली जाती है, उसके उपदेशकी क्या आवश्यक्ता है ? कहा है—

राग उदै जग अंध भयो सहजहि सब लोगन लाज गमाई।
सीख विना सब सीखत हैं विषयानके सेवनकी चतुराई ॥१॥

तापर और रचें रस काव्य कहा कहिये तिनकी निठुराई ।
अंघअसूझनकी अंखियानमें झोंकत हैं रज राम दुहाई ॥२॥

तात्पर्य—विषय कषाय तो अनादिसे जीवको लग रहे हैं । इसीके कारण यह चतुर्गतियोंमें वे दुःख भोगते हैं । तब इनके सेवनका उपदेश व्यर्थ है । आवश्यक्ता है इन विषयोंको छोड़ने वा उपदेशद्वारा अन्यको इनसे विरक्त कराकर छुड़ाने अर्थात् सन्मार्गमें लगानेकी । कारण यदि यह अवसर हाथसे निकल गया, अर्थात् मनुष्यजन्म विषयोंमें बीत गया, तो फिर अनन्त भवोंमें भी इसका पाना दुर्लभ है । जैसे समुद्रमें गिरी हुई राईका दाना फिर हाथ आना कठिन है ।

और यह दुर्लभ संयम सिवाय मनुष्य जन्मके अन्य देव, नरक, पशु आदि गतियोंमें हो नहीं सकता है इसलिये यदि इस अवसरपर चूके तो पछतावा रह जायगा । जैसे कोई अ-ज्ञानी चिंतामणिको पाकर काग उड़ानेमें फेंककर पछताता है ।

इसलिये ऐसा समझकर कि—

मानुष्यं, वर वंश जन्म विभवो, दीर्घायुरारोग्यता ।
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे ॥
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः, सत्पात्रदाने रतिः ।
ते पुण्येन बिना त्रयोदश गुणाः संसारिणाम् दुर्लभाः ॥

इतनी बातें संसारमें दुर्लभ हैं । सदा उत्तम संयम धर्मको यथाशक्ति धारण करके उत्तम अविनाशी सुःखको प्राप्त करना चाहिए ।

यह संयम धर्म इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकने पर होता है। इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेका सहज उपाय यह है कि संसार, देह भोगके स्वरूपका विचार करना, अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म; इन द्वादशानुप्रेक्षाका चिंतवन करना, इत्यादि।

यह संयम दो प्रकारका है—इन्द्रिय संयम और प्राण संयम बाह्य इन्द्रियोंको विषय सेवनसे रोकना, सो इन्द्रिय संयम है और अंतरग आत्मासे विषयोंकी इच्छाको दूरकर देना सो प्राण संयम है। प्राण संयम (अंतरंग विषयोंकी इच्छाको छोड़ना) के बिना बाह्य संयम कार्यकारी नहीं होता है। जैसे उपरसे किसी प्रकारका त्याग कर दिया, उपवासादि कर लिया, और विषय कषाय वैसी ही रही, तो उससे कुछ लाभ नहीं है। कहा है—

कषाय विषयाहारो, त्यागो पत्र विधीयते।
उपवासो स विज्ञेयः, शेषम् लंघनम् विदुः ॥ १ ॥

अर्थात्—विषय कषायोंका त्याग जहां होता है, वही उपवास है। शेष सब लंघन कहा जाता है, इस लिये अंतरंगसे ही विषयोंकी इच्छाको घटाते हुवे तदनुसार बाहिर भी विषय सेवन रोका जाय, तभी विशेष लाभदायक हो सकता है।

यह संयम दो प्रकारसे हो सकता है। एक देशसंयम, दूसरा सकल संयम।

सकल संयम वह है जिससे यावज्जीव पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको सर्वथा त्याग कर दिया जाता है ।

और देश संयममें शक्तिअनुसार नियमरूपसे तथा यम-रूपसे इन्द्रियोंके विषयोंकी सीमा (प्रमाण) कर लिया जाती है और फिर निरंतर उसे बढ़ाते हुवे महाव्रत (सकल संयम) तक पहुंचा दिया जाता है अर्थात् देश संयम भी सकल संयमका साधनरूप होता है ।

सकल संयम (महाव्रत) साधु मुनियोंका उत्तम संयम होता है, उसमें वे इन्द्रियोंके विषयोंको तो छोड़ते ही है किन्तु उन विषयोंके कारण हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य (कुशील) और परिग्रह इन पांचों बातोंको सर्वथा त्याग करते हैं । किसी प्रकारका इनमें दोष भी नहीं लगने देते हैं और भी ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और व्युत्सर्ग ये **पांच समिति**; मन, बचन, काय, ये **तीन गुप्ति** पालते हैं । उपसर्ग और परीषहादि सहन करते हैं । (इनका विशेष वर्णन ग्रन्थोंमें देखना चाहिये ।

और देश संयम (अणुव्रत) गृहस्थियोंका होता है, जिसमें वे यम, नियमों द्वारा अपनी इन्द्रियोंको वश करनेका यथाशक्ति साधन करते हैं; जो कि **एकादश प्रतिमावोंमें** विभक्त है । जो पुरुष उत्तम संयम (सकल संयम) धारण नहीं कर सकते हैं, वे देश संयम द्वारा क्रमसे अपनी शक्तिको

बढ़ाते हैं और जब सब प्रकारसे इन्द्रियाँ वश हो जाती हैं, तब वे सकल संमयको प्राप्त हो जाते हैं ।

इस प्रकार **संयम** धर्म, जो किं आत्माका धर्म है धारण करना चाहिये ।

॥ इति उत्तम संयम धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम तप ।

मनो निग्रहो तपः—अर्थात् मनको वश करना या उसकी गति रोकना सो तप है । उत्तम विशेषण है, इससे विदित होता है कि जो तप यश, कीर्ति, प्रख्याति तथा लौकिक प्रयोजनोंके साधनार्थ न होवे, लोकदिखाऊ न होवे, मारन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटनार्थ न होवे, यंत्र, मंत्र औषधादिके सिद्ध करनेके अर्थ न होवे, किन्तु अपने सच्चिदानन्द स्वरूप निर्मल आत्माको अनादि कर्मबन्धसे छुड़ानेवाला होवे, वही तप उत्तम तप कहा जाता है ।

यह तप आत्माका स्वभाव है, इसी लिये यह धर्म कहा जाता है, कारण आत्मा अमूर्तीक (रूप, रस, गन्ध और वर्णसे रहित) अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य (बल) मयी है । अजर है, अमर है, अजन्मा है, रोग, शोक, भय, ग्लानि, स्वेद, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, विस्मय, निद्रा, खेद, मद, मोह,

अरति, रति, वेद, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) आदिसे रहित, अखन्ड अविनाशी, सदानन्द स्वरुप, एक स्थिर चैतन्य पदार्थ (द्रव्य) है। उपर्युक्त दोष इसमें कर्मपुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न हो रहे हैं, जिससे यह इस पुद्गलको अपना कर उसके हानि, लाभ, सुख, दुःखको अपना ही सुख, दुःख समझ रहा है। इसीसे यह रागद्वेषादि परनमन करके नवीन कर्मबन्ध करता है, तथा प्राचीन बांधे हुवे कर्मके उदयजनित फलोंमें अरति व रति करता है। इसी प्रकार नवीन कर्म बांधना, प्राचीन भोगकर छोड़ना, यही इसका एक प्रधान कार्य हो गया है। इस प्रकारके कर्मोंकी परिपाटी (चक्र) में पड़कर इसे कभी अपने स्वरूपका ध्यान भी नहीं आता है, जिससे स्वरूपको भूला हुवा, संसारमें परिवर्तन (भ्रमण) करता है। कर्म करनेमें स्वतंत्र है, परंतु उसके फल भोगनेमें इसे परतंत्र होना पड़ता है। थोड़ेसे विषय सुखोंको पाकर उनमें मग्न हो जाता है और उनके अभावमें अथवा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषादि बाधावों अथवा रोगादिकके सद्भाव होनेपर व्याकुल हो जाता है, कायर हो जाता है।

परन्तु जब यही संसारी आत्मा किसी कारणसे अपने स्वरूपका विचार कर अनुभव करता है, तो वह इन सब जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शीतोष्णादि व्याधियोंको कर्मकृत उपाधि मानकर और उनसे भिन्न अपने आपको सच्चिदानन्द

स्वरूप, अखंड, अविनाशी, अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यका स्वामी, त्रैलोक्यपूज्य देखता है, जानता है, तब सब ओरसे अपने चित्तको रोककर एकाग्र अपने स्वरूपमें लगा देता है। उस समय सदेह (शरीर सहित) रहनेपर भी यह तेजस्वी आत्मा अनेक प्रकारकी व्याधियोंके उपस्थित होनेपर, उपसर्गोंके आनेपर, परीषहोंको सहता हुवा, कभी भी ध्यानसे च्युत नहीं होता है।

जब वह इस प्रकार निश्चल ध्यानमें मग्न हो जाता है, तो उसे बाह्य शरीरादि सम्बन्धी उपसर्गोंका किंचित ध्यान (अपेक्षा) नहीं रहता है। लोग गाली देवें, मारन ताड़न करें, सिंह व्याघ्रादि काटे चीरे, शीत उष्ण आदिका प्रकोप हो जाय, तोभी अपने शरीरको सुमेरुवत् अचल करके स्थिर रहते हैं। तभी ये परभाव (राग द्वेष) न होनेके कारण नवीन कर्म तो बांधते ही नहीं है। और प्राचीन अनंत जन्मोंके किये हुवे कर्मोंको बहुत थोड़े समयमें भस्म करडालते हैं।

सम्पूर्ण कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अव्याबाध सुख (मोक्ष)को प्राप्त हो जाते हैं, इसी लिये यह तप, उत्तम तप अर्थात् आत्माका स्वरूप कहा जाता है।

उत्तम तपस्वी नग्न (दिगम्बर) होते हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार होता है—

विषयाशावशातीतो, निरारंभो परिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ १ ॥

अर्थात् विषयोंकी आशासे रहित, आरंभसे रहित, परिग्रहसे रहित ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन होते हैं, वही तपस्वी प्रशंसनीय होते हैं ।

यदि तप (तपश्चरण) विषयोंकी आशासे किया जाय अर्थात् विषयाभिलाषासे वा जंत्र, मंत्र, तंत्र, औषधादि सिद्धि करनेको वा अन्य लौकिक प्रयोजन ख्याति, लाभ, पूजादिकी ईच्छासे घर छोड़कर बनवास करे, नाना प्रकार कायक्लेश करे, तो यह केवल आडम्बर मात्र है—व्यर्थ है ।

कारण विषयोंकी सामग्री, ख्याति, लाभ, पूजादि प्रयोजन तो घर (गृहस्थावस्था) में रहकर ही किंचित पुरुषार्थ करने प्राप्त हो सकते हैं, तब इसके लिये इतना कष्ट उठाना व्यर्थ है । दूसरे विषयोंकी सामग्री व लौकिक ख्याति, लाभ, पूजादिक तो संसारमें अनन्तबार प्राप्त हुई हैं । देवेन्द्र, नरेन्द्र आदिककी अखूट सम्पत्ति, ऐश्वर्य, रूप, बलादिक प्राप्त हुवे हैं, सो जब उनसे तृप्त नहीं हुवा, तो अब कदाचित् तुझे मनोनुकूल किंचित सिद्धि भी हो गई, तो कितने काल तक तेरी तृप्ति रहेगी? ये वस्तुवें फिर भी नाश हो जांयगी, जैसे पहिले अनन्तबार हो चुकी है, तब फिर उनकी और उनकी प्राप्तिके अर्थ जो कायक्लेश किया है, उसका चिंतवन करके घोर दुःखी होना पड़ेगा, इसलिये किसी भी प्रकारकी आशा व अभिलाषा न करके तपश्चरण करना चाहिए ।

अब यदि सारंभ तप किया जाय, जैसा कि प्रायः बहुतसे पुरुष पंचाग्नि तपते हैं, कोई भस्म लपेटते हैं, कोई मस्तक पर शिला रखते हैं, कोई नख, केश आदि बढ़ाते हैं, कोई झाड़ आदिसे उलटे लटकते हैं, कोई नाक, कान आदि फाड़ लेते हैं, कोई पृथ्वीमें शिर दबा देते हैं, कोई कन्टकाशनपर सोते हैं इत्यादि, और भी अनेक प्रकार सारंभ तपस्या करते हैं, तो सब व्यर्थ हैं । कारण कदाचित् लोकमें इससे कुछ ख्याति लाभ होजाय, परंतु परमार्थ रंच मात्र भी नहीं सधता है । कारण प्रथम तो चित्त निरंतर साधनमें ही लगा रहता है, जिससे साध्यकी सुधि ही नहीं होती है । फिर ख्याति करनेवाले व भक्तजनोंमें तो प्रीति और निंदकोंमें द्वेष, क्रोध, बैर बढ़ जाता है, फिर आरंभजनित सामग्री इकत्र करनेकी चिंता बढ़ जाती है और आरंभसे अनतानन्त जीवोंकी हिंसा होती है इत्यादि, और भी अनेक प्रकारके अनर्थ उत्पन्न होजाते हैं, जिनसे तीव्र कर्मबन्ध हो करके दुर्गतिका मार्ग पकड़ना पड़ता है, इसलिये सारंभ तपस्या करना व्यर्थ है । निरारंभ तपस्या करना ही श्रेयस्कर है ।

यदि सपरिग्रह तपश्चरण किया जाय, तो उस तपको तप कहना ही व्यर्थ है, क्योंकि जहां निरंतर परिग्रहकी तृष्णा, चाह और रक्षाकी चिंता लग रही है वहां तप कैसा? तप भी नहीं, तपाभास भी नहीं, किन्तु केवल उपहास मात्र

होगा, कारण परिग्रह के इकत्र करने और उसकी रक्षा व वृद्धि करनेमें बहुतोंसे क्रोधादि कषायें करना पड़ेंगीं, बहुतोंकी सेवा सुश्रुषा करना पड़ेगीं, बहुतों झूठी सच्ची प्रशंसा करना पड़ेगी, किसीको अवसर पड़नेपर सत्योपदेश न दिया जा सकेगा, सदा भयभीत रहना पड़ेगा, इत्यादि अनेक प्रकारकी बाधायें होगी, और फिर गृहस्थ तथा तपस्वीमें कुछभी अन्तर नहीं रह जायगा। सदा मायाचारी करना पड़ेगी, दिखानेके लिये अपने दोषोंको ढंकना पड़ेगा, कामादिकी वृद्धि हो जायगी, इत्यादि कारणोंसे सपरिग्रह तप नहीं हो सकता है इसलिये **अपरिग्रह तप करना चाहिए।**

तप दो प्रकार है—अंतरंग और बाह्य

अंतरंग तप जिनका सम्बन्ध आत्मासे है, जैसे **प्रायश्चित्त** (दोषोंपर आलोचना, निन्दा, गर्हा आदि करना वा गुरूके निकट उचित दण्ड लेना), **बिनय** (अपने ज्ञानाचरणमें श्रेष्ठ गुरुजनादिकी प्रशंसा व आदर करना, स्तुति करना), **वैयाव्रत** (साधर्मी साधुजनोंकी सेवा सुश्रुषा करना,) **स्वाध्याय** (शास्त्राभ्यास करना), **व्युत्सर्ग** (शरीरादिसे ममत्वका त्याग करना), **ध्यान** (एकाग्रचित्तको रोकना) इत्यादि।

ब्राह्य तप वह है जो शरीर के आश्रित है, जैसे **अनशन** (स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय, ये चार प्रकार आहारोंका त्याग करना), **उनोदर** (भूखसे कम भोजन करना), **ब्रतपरि-**

संख्यान (भोजनको जाते समय कठिन और अचिन्त्य प्रतिज्ञा कर लेना), रस परित्याग (रस त्याग कर भोजन करना), विविक्त शय्यासन (निर्जन्तु=प्रासुक भूमिपर अल्पकाल एक करवटसे शयन करना), कायक्लेश (शरीरको परिषह सहने योग्य बनाना) इत्यादि ।

तपाभिलाषीजनोंको प्रथम ही ममत्वभाव छोड़ देना चाहिए । क्रोध, मान माया लोभ तृष्णा, आशा, मद, मत्सर, प्रमाद आदि कषायें, तपस्वीको तपसे भृष्टकर देती हैं । दीपायन आदि कितने ही मुनि क्रोधसे आप भी भस्म हुवे और असंख्यात जीवोंका संहार कर गये ।

शांति, क्षमा, संतोष, सहनशीलता, दृढ़तादि ही तपस्वियोंका भूषण है । सुकुमाल, बाहुबली, पार्श्वनाथ, देशभूषण, कूलभूषणादि ऋषियोंके तप, दृढ़ता व सहनशीलताके कारण सराहनीय है ।

जबतक अंतरंग भावोंसे ममत्व दूर न होवे, तब तक बाह्य त्याग केवल निरर्थक कायक्लेश है, इसलिये शुद्धात्मा स्वरूपकी प्राप्तिके अर्थ मन, बचन, कायसे उत्तम तप धारण करना ही कर्तव्य है ।

इस प्रकार उत्तम तप धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया ।

इति उत्तम तप धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम त्याग।

त्यजतीति=त्यागः अर्थात् त्यजना, छोड़ना, व देना, इसे ही **त्याग** कहते है। उत्तम विशेषण इसकी निर्मलताका सूचक है। अर्थात् जिस दानमें किसी प्रकार छलकपट, आशा, व कषायोंकी पुष्टिता न की गई हो, उसे ही उत्तम दान कहते हैं।

तात्पर्य–दान उसे कहते हैं, जिससे **स्वपर उपकार** हो अर्थात् दान देनेसे किसी भी वस्तुसे (जो दान की जावे) अपना ममत्व छूटता है। और जिसे दी जाती है, उसकी अभीष्ट सिद्धि होनेसे आर्त परणामोंकी न्यूनता होती है इसी लिये दान स्वपरोपकारार्थ कहा गया है।

जिस दानसे अपने आपको मानादि कषायें बढ़ें, व परको विषयोंकी वृद्धि हो, अथवा एकको दानसे वहुतोंका घात होवे, सो दान नहीं कहा जाता है, क्योंकि उसमें स्वपर अपकार होता है।

दान दो प्रकारका है–**अंतरंग** और **बाह्य** ।

अंतरंग दान (स्वदान) उसे कहते है, जिसमें अपने ही आत्मासे अनादि कालके लगे हुवे राग द्वेषादि कर्मशत्रुवोंको अलग करना, अर्थात् आत्माको परभावों (ममत्वादि भावों) से

(जिनके कारण वह सदा भयभीत दुःखी रहता है) छुड़ाकर निर्भय कर देना ।

बाह्य दान (पर दान) वह है, जिसमें दूसरे जीवोंको आवश्यक्तानुसार **आहार, औषधि, शास्त्र** और **अभयदान** दिया जावे ।

दान कई प्रकारसे दिया जाता है । जैसे भक्तिदान, करुणादान, कीर्तिदान, समदान इत्यादि, इनमें अंतके दो समदान और कीर्तिदान ये केवल लौकिक व्यवहार है । इनसे परमार्थ कुछ भी नहीं होता है, किन्तु पहिले दो **भक्तिदान** और **करुणादान** श्रेष्ठ हैं ।

भक्तिदान—साधु, मुनि आदि गुरुजनोंको, वा साधर्मी व्रती श्रावकको, व सम्यक्द्दष्टी जीवोंको, उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धिके अर्थ हर्षयुक्त होकर दिया जाता है ।

करुणादान—दुःखित, भूखित, अंगहीन, अपाहिज, निःसहाय, बालक, वृद्ध, स्त्री, दीन जीवोंको, उनके दुःख दूर करनेको उक्त चार प्रकारके दानोंको करुणाभावोंसे देना, सो करुणादान है ।

दान—**सुदान** और **कुदान** इस प्रकारसे भी दो प्रकारका है ।

सुदान वह है, जो भक्तिसे मुनि, व्रती श्रावक व अव्रती सम्यक्द्दष्टि जीवों आदिको तथा करुणासे दुःखी, दीन, निःसहाय जीवोंको दिया जाय ।

कुदान वह है—जो कीर्तिके लिये पात्र अपात्रको न देखकर विषय कषायोंके बढ़ानेवाली वस्तुवें जैसे, गज, अश्व, गाय, महिषी गाड़ी, रुपया पैसा, स्त्री, मकान आदि देना ।

चार प्रकारका दान तो सामान्य प्रकारसे कहा गया है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र काल, और भावकी अपेक्षासे दानके भी प्रकारोंमें अन्तर पड़ता है । सदाकाल एक ही दानकी मुख्यता नहीं रहती है । आवश्यक्तानुसार मुख्यता और गौणता होती है । जैसे भूखेको भोजनकी मुख्यता है, रोगीको औषधिकी, भयातुरको अभयदानकी, मूर्खको ज्ञान (शास्त्र) दानकी मुख्यता है । जब कोई भूखसे पीड़ित है, तब उसे औषधि, रुपया पैसा, शास्त्रादि देवे तो निष्प्रयोजन है । एक मुर्गा जो भूखसे व्याकुल भक्ष्यकी खोजमें फिर रहा था, उसे मोती दृष्टि पड़ा, तब उसने अति घृणासे कहा—" रे मोती ! यद्यपि तू जौहरीके निकट, जो तुझे चाहता है, बहु मूल्य है, किन्तु मेरी दृष्टिमें तो एक दाना अनाजसे भी कम दामका (व्यर्थ) है इत्यादि । " इसी प्रकार जब जहां मरी, प्लेग, विशूचिका, आदि बीमारियाँ फैल रही हैं, वहां कोई शास्त्र बांटने लगे, तो व्यर्थ ही होगा, इसलिये दान करनेके पहिले दानका द्रव्य (पदार्थ), दानका पात्र, क्षेत्र व कालकी आवश्यक्ता और अपनी शक्ति देख लेवे, तभी वह सार्थक होता है ।

चार (**औषधि, शास्त्र, अभय और आहार**) दानोंके सिवाय यदि आवश्यक है, तो मकान, रुपया, वस्त्र, वाहनादि भी दान किये जा सकते हैं, इनका निषेध नहीं है, जैसे **धर्मशाला, पाठशाला, चैत्यालय,** आदि सर्व साधारणके उपकारार्थ बनवा देना। रुपयोंसे **अनाथाश्रम, छात्राश्रम, श्राविकाश्रम, विद्यालय,** औषधालय, **पुस्तकालय,** खोल देना। सर्व साधारणके उपकारार्थ सत् **शास्त्रों**को प्रकाशित करके **बिनामूल्य** व अल्प-मूल्यमें वितरण करना। शीत ऋतुमें दीन पीड़ितोंको वस्त्र देना, विद्यार्थियोंको वस्त्र बनवा देना। सत्पात्र साधर्मी भाइयोंको जिनके पास **तीर्थ यात्रादि**का साधन न हों, उन्हें उसका साधन वाहन आदिका बन्दोबस्त कर देना इत्यादि। इस प्रकारसे ऐसे दानोंका निषेध नहीं है।

दानमें दानकी विधि, दानका द्रव्य, दानका पात्र और दानदातारके भावोंकी अपेक्षासे अर्थात् विशेषतासे विशेषता होती है। इनमें दातारके भाव मुख्य है। शुभ भावोंसे **सुपात्र**को उसकी योग्यतानुसार दिया हुवा दान, अतुल फल-दाता होता है। जैसे तीर्थंकरको दिया हुवा दान दाताको तद्भव मोक्ष पहुंचा देता है, इत्यादि। स्वर्ग, मोक्ष, भोग भूमि आदिको यथासंभव प्राप्त करता है। **कुपात्र**को दिया हुवा **दान** हीनऋद्धि, कुभोग भूमि या तिर्यञ्चगतिका कारण होता है। कहावत है--**मान बड़ाई कारणे, जे धन खर्चे मूंढ।**

मरकर हाथी होंयगे, धरनि लटके सूंढ॥

और अपात्रका दिया हुवा दान तो नर्क निगोदादि गतिको ही ले जानेवाला होता है ।

दान (त्याग) आत्माका निजभाव है इसी लिये धर्म कहा गया है । कारण मोहादि भाव (जिनसे यह जीव पर वस्तुवोंको अपना कर उनमें लवलीन हुवा, मैं मैं, व मेरा मेरा कर रहा है और जिनके संयोग वियोगमें हर्ष विषाद करता है) इसके स्वभाव नहीं है, किन्तु यह स्वछन्द सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता–दृष्टा है। सबसे भिन्न स्वरूपमें रमण करनेवाला सच्चिदानन्द स्वरूप है । जब यह आत्मा स्वानुभव करता है तो तीन लोककी सम्पत्तिको तृणवत् देखता है। इन सब पदार्थोंको कर्मकृत उपाधि मानता है, तब इनसे विरक्त होकर इन्हें छोड़कर स्वरूपमें लीन होजाता है और यदि कोई प्रबल कर्म इन्हें सर्वथा छोड़नेमें बाधक होता है, तो जलकमलवत् लक्ष्मीका भोग करता हुवा उससे भिन्न रहता है । यथा संभव समय२ उसे त्याग भी करता जाता है, और अवसर पाकर सर्वथा त्याग देता है ।

थोड़ा२ त्याग करनेका प्रयोजन केवल त्यागशक्तिका बढ़ाना है । जो निरंतर थोड़ा बहुत दान किया करते हैं, वे किसी समय सर्वथा भी त्याग करनेमें समर्थ होते हैं, किन्तु जिन्हें खर्च करनेका (दान करनेका) अभ्यास नहीं है, वे अवसर आनेपर भी छोड़ नहीं सकते हैं । वे इस सम्पत्तिके

मोहमें इतने पड़ जाते हैं कि मरते मरते भी उन्हें अपनी द्रव्य-रक्षाकी चिन्ता बनी रहती है। कितने तो मरकरके अपने पूर्वजन्मके भण्डारमें सर्प होते हैं। जिस वस्तुका संयोग होता है उसका नियमसे वियोग होता है। द्रव्य या तो अपने संचय करनेवालेको उसका पुण्य क्षीण होते ही उसी जन्ममें साह्मने ही छोड़कर चली जाती है। बहुतसे बड़े२ रईस, व्यापारी, जौंहरी आदि देखते२ पराये आश्रित भोजन पानेको भी अपना सौभाग्य मानते हैं अर्थात् रंक गरीब निर्धन हो जाते है अथवा संचयकर्ता (श्रीमान्) अपनी द्रव्यको छोड़कर चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें जिनको उत्पन्न करके खर्च (दान) करनेका अभ्यास होता है, उन्हें तो द्रव्य (धन) के वियोग (नाश) होनेपर भी कुछ कष्ट नहीं होता है, परंतु जिन्हें दान करनेका अभ्यास नहीं है, वे हाय २ करके मरकर पशु व नर्कगतिमें घोर दुःख भोगने चले जाते हैं।

जो लोग द्रव्य इकत्र ही करते हैं और खर्च नहीं करते हैं, ऐसे कंजूस (सूम) के संसारमें अनेक निःकारण शत्रु बन जाते हैं। धनी कंजूस सदा चिंतावान, भयवान बना रहता है। जहां उनके पास कोई आया, कि उन्हें यही शंका रहती है, कहीं कुछ मांगेगा तो नहीं? एक सेठके यहां कोई उपदेशक गया, तो मिलते ही सेठजीने जुहारुके बदले यही कहा-"थे, कांइ कुछ मांगेगा तो नई? अठे लेवा देवारी बात करो

मर्ती" इत्यादि । तात्पर्य—यह कि कंजूस सदा शंकित रहता है। कभी २ वह अति लोभमें पड़कर उल्टा पासका सब खो बैठता है इत्यादि । और बहुतसे अनर्थ कंजूस लोभी धनी करता है । निदान अंत समय और तो क्या शरीर तक साथ नहीं जाता, सब पड़ा रह जाता है । यदि कुछ दिया होता तो अवश्य वह उसको आगामी किसी समय मिल जाता । जिन्हें साथ ले जाना है, उन्हें चाहिये कि वे अपने साम्हने क्या अपने ही हाथसे सब द्रव्य सुपात्र दानमें लगा कर साथ ले जाय। कहा है—

धर गये सो खो गये, अरु दे गये सो ले गये ॥

और भी कहा है—

पितारत्नाकरो यस्य, लक्ष्मी यस्य सहोदरी ।
सखो भिक्षाटनं कुर्यात् नादत्तमुपतिष्ठते ॥

अर्थात्—समुद्र (जिसमें रत्न उत्पन्न होते हैं) जिसका पिता है और लक्ष्मी बहिन है, वही शंख्य घर घर भीख मांगता फिरता है । यह न देनेका फल है । प्रत्यक्षमें एक पिताके ४ पुत्रोंमें ३ धनी और १ निर्धन देखा जाता है, यह सब दानका माहात्म्य है, इसलिये सदा दान करनेका अभ्यास रखना चाहिए । जिनका ममत्व कम होता है, वे ही दान करते हैं । जब ममत्व (विभाव) छूटता है, तब स्वभाव प्रगट होता है, इसलिये त्यागभाव आत्माका धर्म है ।

बहुतसे लोग अपने जैसे श्रीमानोंको खिलाने या जीमनवार करनेको दान समझते हैं, पर यह भूल है- निरर्थक है—

वृथा वृष्टि समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम् ।
वृथा दानम् धनाढयेषु वृथा दीपो दिवापिच ॥१॥

अर्थात्—समुद्रमें वृष्टि होना, तृप्त (खाये हुवे)को खिलाना, धनीको दान देना और सूर्यको दीपक बताना व्यर्थ है। बहुत लोग अपनी बहिन, बेटी, बेटा, स्त्री आदिको कुछ द्रव्यका विभाग करके अपनेको दानी मान लेते हैं, परन्तु यह दान नहीं है, क्योंकि वे लोग तो दायादार हैं । न दोगे, तो लड़ झगड़कर तुम्हारे आगे पीछे लेवेंगे ही, तब उन्हें देकर क्या दान किया ? यदि किसी निरपेक्ष पुरुषको भक्ति व करुणासे दिया होता, तो निसन्देह दान कहाता । कितने लोग बिना सोचेसमझे पुरानी रूढ़िको पकड़े हुवे एक ही कार्यमें (जो कुछ कालसे उस समयकी आवश्यक्तानुसार किसी बुद्धिमान पुरुषका चला हुवा है) खर्चते चले जाते हैं, पर यह नहीं देखते है, कि अब इसकी आवश्यक्ता है या नहीं है और बिना आवश्यक्ताका दान देना, दाता और द्रव्य दोनोंकी हास्य कराता है, इसलिये सदा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी योग्यताको समझकर दान देना चाहिये । जो दान नहीं देते हैं वे अपने ही आत्माको ठगते है अर्थात् मोहसे तीव्र कर्म बंधकर संसारमें भटकते हैं, इसलिये दान करना मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है ।

इस प्रकार उत्तम त्याग धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया ।

॥ इति उत्तम त्याग धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम आकिञ्चन ।

न+किञ्चनः इति आकिञ्चनः—अर्थात् किञ्चित भी परिग्रह-का न होना सो आकिंचन है । उत्तम विशेषण है, जिससे बोध होता है कि परिग्रह केवल दिखाने मात्रको अलग नहीं हुवा है, किन्तु अंतरंगमें भी उसकी चाह नहीं है, इस प्रकार उसके गुरुत्वको प्रकाशित करनेवाला है । यह आकिंचन धर्म आत्माका स्वभाव है, कारण आत्मा शुद्ध चैतन्य अमूर्तीक पदार्थ है । परिग्रह पुद्गलमई रूपी पदार्थ है, जो आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वरूप है । इस (परिग्रह) के संयोगसे आत्मा ममत्व रूप (विभाव रूप) परणमता है और इसके अलग होते ही स्वभावको प्राप्त होता है । इसका न होना सो ही आकिंचन है इसी लिये आकिंचन आत्माका स्वभाव कहा जाता है ।

परिग्रहका लक्षण आचार्योंने इस प्रकार बांधा है—

मूर्च्छा परिग्रहः—अर्थात् ममत्व (मोह) ही परिग्रह है । केवल धन, धान्यादि पदार्थोंहीका न होना अपरिग्रह (आकिंचन) नहीं कहा जा सकता है, कारण यदि बाह्य वस्तुवोंका न होना ही अपरिग्रह माना जावे, तो गरीब, निर्धन, बालक, पशु, पक्षी आदि तथा जंगली मनुष्य भीलादिक जो प्रायः नग्न रहते हैं, अपरिग्रह समझे जावेंगे, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उनके लाभान्तराय कर्मके उदयसे वे पदार्थ प्राप्त नहीं हुवे हैं, तो भी

उनकी इच्छा उन वस्तुवोंके प्राप्त करने (पाने) की अवश्य है, इसलिये वे बाहिरसे अपरिग्रही होते हुवे भी बहु परिग्रही हैं। वे निरंतर चाहकी दाहमें जला करते हैं, इसी लिये आचार्योंने और भी परिग्रहके दो भेद कहे हैं—अभ्यंतर और बाह्य।

आत्माके विभावभाव सो अंतरंग परिग्रह है। जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, हास्य, शोक, भय, रति,अरति जुगुप्सा, वेद इत्यादि।

बाहिरके भोगोपभोग सम्बन्धी पदार्थ बाह्य परिग्रह हैं। जैसे धन (गाय, महिषि, घोड़ा, हाथी आदि जानवर और सवारी आदि), धान्य (अन्नादिक भोज्य पदार्थ), क्षेत्र (ज़मीन, जागीर आदि), बास्तु (रहनेके मकान आदि), हिरण्य (रुपया, पैसा, मुहुर आदि मुद्रित सिक्के), सुवर्ण (आभूषणादि वस्त्रादिक), दासी (नौकरनी), दास (नौकर), कुप्य (बखार, बंडा, खौड़ियादि), भांड (थाली, लौटा आदि खानेपीने व रांधनेके बर्तन) इत्यादि।

अंतरंग परिग्रहका त्याग किये बिना बाह्य परिग्रहका त्याग निरर्थक है। इतना अवश्य है, कि बाह्य परिग्रह अंतरंग भावोंकी मलिनताका कारण है, इसलिये जो अंतरंग परिग्रह त्याग करना चाहते हैं, उन्हें बाह्य परिग्रह तिलतुस मात्र भी नहीं रखना चाहिये, कारण यदि एक लंगोटी (कोपीन) मात्र भी पास रहेगी, तो वह सदैव परणामोंमें मलिनता उत्पन्न करती रहेगी, तब आत्मध्यानमें बाधा पड़ेगी।

जैसे लंगोटके खो जाने, फट जाने, मलिन हो जाने, उसके स्वच्छ करने, संशोधन करने, नवीन प्राप्त करने इत्यादिकी चिंता हो जायगी। कभी समय पर न मिलनेसे रागद्वेष भी हो जायगा इत्यादि कारणोंसे बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग अंतरंग विशुद्धताका कारण है। और इसी लिये दिगम्बर साधु बिलकुल जन्म हुवे बच्चेके समान निर्विकार नग्न रहते हैं।

बहुतसे लोग नग्न दिगम्बरत्वको देखकर अपने परणामोंमें विकार भाव उत्पन्न हो जानेकी शंका करते हैं और इसलिये वे साधुवोंको नग्न देखकर निंदा करते हैं, जैनियोंकी नग्न दिगम्बर मूर्ति पर आक्षेप करते हैं इत्यादि।

परन्तु यह उनकी भूल है। नग्न पुरुषको देखकर विकार भाव उत्पन्न हो जाते हैं, यह असंगत है, कारण प्रत्येक पुरुष अपने घरमें बालक बालिकावोंको प्रायः नग्न देखते हैं, तब उन्हें विकार नहीं होता है। माता अपने पुत्रको स्नान कराती है। उसके मलमूत्रके अंगोंको धोती है, इसी प्रकार पिता व भाई अपनी पुत्रियों व छोटी बहिन बच्चियोंको नहलाता, धुलाता, खिलाता है, तब क्यों विकार नहीं हो जाता है? क्या वे बालक जन्मसे ही वस्त्र पहिने रहते हैं? भारतीय बालिका कमसे कम चार पांच वर्ष तक, और बालक आठ दश वर्ष तक तो प्रायः नग्न ही फिरा करते हैं।

और मातापितादि गुरुजन जब कोई असाध्य व्याधिसे पीड़ित हो जाते है, वस्त्रोंमें मलमूत्र कर देते हैं, स्वयम् स्वच्छ नहीं कर सकते हैं, तब उनके तरुण पुत्र पुत्रियां, पुत्रवधुवें, बहिन आदि उनके शरीरको धोकर साफ कर देती हैं, तब विकारको नहीं प्राप्त होते हैं। बालक माताके स्तनको मसलता है, चूसता है, तब न मा न बेटा कोई भी विकारको प्राप्त नहीं होता है।

डाक्टर (वैद्य) लोग स्त्रियोंके पेटमेंसे बालक निकालते हैं, प्रसूति कराते हैं, तथा और भी स्त्री पुरुषोंके गुप्त अंगोकी परीक्षा व चिकित्सा (दवा) करते हैं, तब उन्हें विकार नहीं हो जाता है, न वे स्त्री पुरुष, जिनकी चिकित्सा होती हो विकारको प्राप्त होते हैं। पशु निरंतर नग्न रहते हैं, तो भी निरंतर नरपशु मादीको देखकर व मादी नरको देखकर विकारको नहीं प्राप्त हो जाते हैं।

तात्पर्य—नग्नत्व ही विकारको उत्पन्न करनेका कारण नहीं है। कदाचित् किसीको कारण वश हो भी जाय, तो जो बात बहुधा होती है, वही ठीक होती है, इससे निश्चय हुवा कि नग्नत्व विकार उत्पन्न होनेका कारण नहीं है।

किन्तु मुख्यतासे जो पुरुष नग्न हो और वह अंतरंग मलिन (विकार सहित) हो, तो अवश्य ही विकारोत्पन्न होनेकी संभावना है, किन्तु निर्विकारको नग्न देखकर नहीं, जैसे वही ऊपर कहा बालकादिका दृष्टान्त।

दूसरा कथंचित् यह भी कह सकते हैं, कि "जाके मनहिं भावना जैसी, प्रभु मूर्ति देखी तिन तैसी, सो ऐसे पुरुषोंके कारण क्या महात्मागण (मोक्षाभिलाषी जन) अपने कर्तव्यको छोड़ देते है ? क्या उल्लूको सूर्यके अंध हुवा जानकर सूर्य अपनी प्रभाको रोक लेता है ? क्या वह फिर नहीं उदय होता है ? क्या चोरोंको इष्ट न होनेके कारण चन्द्रमा अपनी चांदनीको संकोच लेता है ? नहीं, नहीं, कभी नहीं।

इसी प्रकार कदाचित् कोई तीव्र मोही रागी पुरुष परम दिगम्बर शांति मुद्रायुक्त साधु तथा उसकी छबिको देखकर भी विकारको प्राप्त हो, तो यह दोष साधुको नहीं है, किन्तु यह उसी दुष्कर्मोंका दोष है, जो कि अपना तीव्र कर्म बांधकर कुगतिको जानेवाला है।

तात्पर्य—अंतरंग भावोंको निर्मल रखनेके लिये बाहिरके भी सब प्रकारके परिग्रहको सर्वथा त्यागना चाहिए, क्योंकि भावोंकी निर्मलताके विना निर्विकल्प आत्मध्यान नहीं होता, और सच्चे आत्मध्यान विना मोक्ष नहीं होता है। जो कोई जीव परिग्रहको सर्वथा नहीं छोड़ सकते हैं, उन्हें उसका यथाशक्ति प्रमाण अवश्य ही कर लेना चाहिए।

इस प्रकार उत्तम आकिञ्चन धर्मका संक्षेपसे वर्णन किया।

॥ इति उत्तम आकिञ्चन धर्मांगाय नमः ॥

उत्तम ब्रह्मचर्य्य।

ब्रह्मणे चरति इति ब्रह्मचर्य्यः अर्थात् ब्रह्म (आत्मा) में चर्य्या (रमण) करना, सो ब्रह्मचर्य्य है, अथवा मैथुन कर्मका सर्वथा त्याग करना सो ब्रह्मचर्य्य है। उत्तम विशेषण उसकी निर्दोषताका सूचक है।

यह ब्रह्मचर्य्य धर्म्म आत्माका स्वभाव ही है कारण जब तक जीव विभाव भावों सहित रहता है, तब तक उसे शुद्धात्म स्वरूपका बोध तक नहीं रहता है, और वह पुद्गलादि पर वस्तुवोंमें लीन हुवा, स्वात्मानुभव नहीं कर सकता है, और इसी लिये जब विभाव भावोंका अभाव होता है, तब स्वभावको प्राप्त होकर स्वरूपमें मग्न हुवा परमानन्द दशाको प्राप्त होता है। वह परमानन्दमई अवस्था ही यथार्थ ब्रह्मचर्य्यावस्था है। इसी लिये ब्रह्मचर्य्यको धर्म्म कहा है, क्योंकि धर्म्म वस्तुका स्वभाव ही है।

व्यवहारमें ब्रह्मचर्य्य मैथुन कर्म (स्पर्श इन्द्रियका विषय) से सर्वथा पराङ्मुख होनेको कहते है, अर्थात् संसारकी स्त्री मात्रको व पुरुष मात्रको (चाहे वे मनुष्य, पशु, देव आदि गतियोंके सजीव हो या काष्ट, पाषाण धातु आदिकी मूर्त्ति व चित्राम आदिकी मूर्ति निर्जीव हो) सराग भावसे नहीं

देखना अथवा उनमें पत्नी व पतिभाव न करके उनको माता, बहिन, बेटी, पिता, भाई, बेटेकी द्रष्टिसे देखना सो ब्रह्मचर्य्य है।

यद्यपि और भी इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन रहना भी अब्रह्मचर्य्य है, कारण विषय मात्र पौद्गलिक विभाव परिणीत है, तथापि यहांपर मुख्यतासे जो स्पर्श इन्द्रियके विषय (मैथुन) को ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि और इन्द्रियोंके विषयसे स्पर्श इन्द्रियके विषयकी प्रबलता देखी जाती है, कारण अन्य इन्द्रियोंके विषय इस प्रकार न तो लोक विरुद्ध ही पड़ते हैं कि जिनके सेवन करनेमें जनसाधारणकी दृष्टि बचानेका प्रयत्न किया जाय, न इतने भय वा परिग्रहकी चिंता ही होती है वे सहजर थोड़ी महिनतसे ही प्राप्त हो सकते हैं और सब इन्द्रियोंके विषय इस (स्पर्शइन्द्रिय) के ही साधन-रूप हैं, वे सब इसे उत्तेजन देते हैं। यही कारण है कि ब्रह्म-चारी नरनारियोंको अंजन, मंजन, श्रृंगार, विलेपन, वस्त्रा-भूषण, पौष्टिक भोजन, रागरंग, नाटक आदि कार्य वर्जित किये गये हैं क्योंकि ये सब कामोत्तेजक हैं। तात्पर्य—कामको जीत-ना ही ब्रह्मचर्य्य इसी लिये बताया है, क्योंकि यह सर्व साधारणको सहजर वश नहीं होता है। यह तपस्वियोंको तपसे भ्रष्ट कर देता है। देखो, ब्रह्माकी लोकप्रसिद्ध कहावत है कि, जब इन्द्रका आसन कांपने लगा तो उसे भय हुवा कि कोई मेरा सिंहासन लेना चाहता है, तब उसने तुरंत ज्ञानके द्वारा जान लिया, कि ब्रह्मा घोर

तपश्चरण कर रहा है और बहुत शीघ्र वह कृतकार्य होनेवाला है, तब उसने सबसे प्रबल उपाय उसे तपसे भृष्ट करनेका यही सोचा कि स्त्रीको भेजना चाहिये। वह मेरा अभीष्ट सिद्ध कर सकेगी, क्योंकि कहा है--

स्त्री चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम्।
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः॥

अर्थात् स्त्रीका चरित्र और पुरुषके भाग्यको देव भी नहीं जानते हैं, तो मनुष्यकी क्या बात है? देखो, स्त्रीके वशीभूत होकर शीवजीने उसे अपने अर्द्ध अंगमें धारणकर रखी है। स्त्रीके वियोगमें रामचन्द्र पागलोंकी तरह बनमें भटकते फिरे हैं। श्री कृष्ण भगवानने राधकाको ठगनेके लिये नाना प्रकारके स्वांग रचे हैं। भीष्म पितामँहको अपने पिताके धीवर कन्या पर आसक्त होनेके कारण आजन्म ब्रह्मचर्य्य रखना पड़ा है। महर्षि पारासरने उसी धीवर कन्याके साथ बलात्कार व्यासजी नामके पुत्रको कामसे पीड़ित होकर उत्पन्न किया है इत्यादि। और भी अनेक कथाएं पुरानोंमें ऐसी हैं कि जो पुरुष प्रबल शत्रुको मुष्टिप्रहार (मुके) से ही मार ड़ाले, जो सिंहको पकड़कर उसके दांत अपने हाथोंसे उपाड़ ले, जो विषधर सांपको पांवसे मसल दे, हाथीकी कुंभ नखोंसे बिदार ड़ाले, और भी अनेक अपौरुषेय चमत्कारी कार्य कर सके तथा जिसको जीतनेवाला त्रैलोकमें और कोई न हो, उसे

रमणी (स्त्री) बातकी बातमें केवल कटाक्ष मात्रसे वश कर लेती है—जीत लेती है, इस लिये इससे उत्तम और कोई उपाय संसारमें नहीं है, ऐसा स्थिर करके उसने तिलोत्तमा नामकी अप्सराको ब्रह्माके ठगनेको लिये भेजी।

तिलोत्तमाने आते ही अनेक प्रकार हावभाव विभ्रम कटाक्षादिसे पूर्ण संगीत नृत्य आरंभ किया। जब ब्रह्माजी ध्यानसे च्युत होकर देखने लगे, तो वह पीछे नाचने लगी। ब्रह्माने पीछे भी मुंह बनाया, तब वह दायें बायें नाची, ब्रह्माने दायें बायें भी मुंह बना लिये अर्थात् चतुर्मुख होकर देखने लगे, तब वह आकाशमें नाचने लगी। ब्रह्माने गर्दभाकार मुंह बनाकर आकाशमें देखना आरंभ किया, तब वह अप्सरा अंतरध्यान (विलुप्त) हो गई और ब्रह्माजी अपने ४००० वर्षके तपसे भृष्ट हो गय, ऐसा ब्रह्मादि पुराणोंमें कहा है इत्यादि।

और भी प्रत्यक्ष देख लीजिए, इसमें प्रमाणोंकी भी आवश्यकता नहीं है, कारण जैसे स्कूल, कालेज, विद्या, शास्त्र, कला, कौशल्यादिको सिखानेके लिये खुले हैं, तब भी लोग कठिनतासे पढ़ सकते हैं और बहुतसे तो तिसपर भी विद्या कला, चतुराईसे रहित हुवे पशुवोंकी समान संसारमें जीवन बिताते हैं अर्थात् गुण, विद्या तो सिखानेपर भी कठिनतासे आती है परन्तु वैसे काम कला सिखानेसे नहीं होते। वह बिना ही शिक्षा आ जाती है। यदि अन्य इन्द्रियोंकी विषयसामग्री कुछ काल न भी मिले, तब

भी कुछ विह्वल नहीं हो जाता, परन्तु काम पीड़ित बिलकुल ही बेशुद्ध हो जाता है। वह खाना, पीना, सोना, सब भूल जाता है, लज्जा भी लज्जित हो भाग जाती है। कभी रोता है, कभी नाचता, कभी गाता, कभी हंसता, कभी दीन हो जाता, कभी क्रोध करता, अखाद्य भी खाता, नीच जनोंकी सेवा करता है इत्यादि। कहां तक कहा जाय? न करने योग्य समस्त कार्य करता है। कुलकी मर्यादा, धर्म आदिको जलांजुलि दे देता है, सदा चिंतावान रहता है, शरीरसे कृश हो जाता है, अनेक प्रकार राजदण्ड, पंचदण्ड भी भोगता है, तो भी बिषयसे पराङ्मुख नहीं होता है।

तात्पर्य—काम इन्द्रियका विषय अन्य इन्द्रियोंके विषयोंसे अत्यन्त अधिक प्रबल है और अन्य इन्द्रियोंके विषय भी इसीमें गर्भित हो जाते हैं, इसी लिये इससे विरक्त होनेको ही ब्रह्मचर्य्य कहा है, इसलिये सुखाभिलाषी जीवोंको **सदा उत्तम ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करना चाहिए।**

यद्यपि यह काम अत्यन्त प्रबल है कि तीन लोकके जीवोंको वश कर रखा है, तो भी यह न समझना चाहिए कि यह दुर्जय ही है या अजेय ही है। यथार्थमें कायर जीवोंके लिये ही ऐसा है, किन्तु पुरुषार्थी वीरोंपर इसका कुछ भी वश नहीं चलता है। देखो, श्री नेमिनाथ भगवानने दीन जीवोंका दुःख देखकर ही संसारिक विषयोंको छोड़ दिया था। उन्होंने

देवांगना तुल्य सती राजमतीको ब्याहतेर छोड़ दिया था। यद्यपि राजमतीने उन्हें उनके दृढ़ व्रतसे च्युत करनेको बहुत चेष्टा की, किन्तु जब कुछ भी वश न चला, तो लाचार होकर, स्वयम् दीक्षा (व्रत) ग्रहण कर ली।

भीष्मपितामँह (गुरु गंगेय) ने अपने पिताके कारण ही आजन्म अखंड ब्रह्मचर्य्य पालन किया था।

अंतिम केवली श्री जम्बूस्वामी अपनी तुरंतकी ब्याही हुई चारों स्त्रियोंको रात्रिमें जीतकर तथा अपने अखंड ब्रह्मचर्य्य-से च्युत न होकर प्रातःकाल दीक्षा ले गये थे।

श्री ऋषभदेवकी दोनों पुत्रियां ब्रह्मी और सुन्दरी कुमार अवस्थाहीमें संसारको त्याग दीक्षित हुई थी।

इत्यादि और भी अनेक महात्मा जैसे श्री पार्श्वनाथ, तथा श्री वर्द्धमान भगवान आदिने इस कामको उत्पन्न होनेके पहिले ही नाश कर दिया है। ऐसे द्रढ़ व्रतको उत्तम ब्रह्मचर्य्य कहते है।

जिनमें इतनी शक्ति नहीं है, वे अपनी पाणिग्रहण की हुई स्त्रीमें ही तथा पुरुषमें ही संतोष करते हैं और प्राण जाते भी कभी अपने संकल्पसे नहीं हटते हैं।

देखो, सेठ सुदर्शनको रानीने कितना फुसलाया, परन्तु उस वीरको कुछ भी विकार नहीं हुवा, जिसको उसके सत्य-शील व्रतके कारण सूलीका सिंहासन हो गया था।

सीता (जानकी) को रावणने कितना भय दिखाया, परन्तु धन्य वह वीरबाला, उसके फन्देमें न आई और अग्नि-कुंडमें प्रवेश करके जनसाधारणको अपने सत्यशीलका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखा दिया। सुखानन्द, मनोरमा, रयनमंजूषा, द्रौपदी, आदि अनेक सति नरनारियोंके चरित्र पुराणोंमें लिखे हुवे हैं, जिनसे ब्रह्मचर्य्यकी अतुल महिमाका पता लग सकता है।

यथार्थमें यही कारण था, कि इस भारतभूमिपर पांडवादि जैसे महाबली, तथा रामचन्द्रजी जैसे न्यायी, श्रेणिक जैसे सभाचातुर, अभयकुमार जैसे दयालु, चेलना जैसी विदुषी, अंजनी जैसी पतिपरायणा, बाहुबलि जैसे परमतपस्वी उत्पन्न होकर अपने बल पराक्रमादि अतुल गुण, कला, चातुर्य्य, न्याय, रूपादिसे संसारको विस्मित करते हुवे स्वर्ग मोक्षको प्रयाण कर जाते थे।

संसारमें जितनी बुराइयाँ हैं, वे काम (विषय) से उत्पन्न होती हैं और इसके विपरीत सम्पूर्ण प्रकारके सद्‌गुण ब्रह्मचर्य्यसे प्राप्त होते हैं। इसी ब्रह्मचर्य्यके प्रभावसे पूर्व समयमें भारत धन, बल, विद्या, कला, चतुराई, सौंदर्य आदिमें सर्वापेक्षा चढ़ाबढ़ा था। आज इसी पवित्र ब्रह्मचर्य्यके न रहनेसे इस देशपर अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आने लगी हैं, रोगोका घर बन गया है इत्यादि।

इसलिये लौकिक तथा पारलौकिक सुखाभिलाषी जीवोंको उत्तम ब्रह्मचर्य्य धारण करना चाहिए।

जो उत्तम पुरुष हैं वे कभी ऐसे कुत्सित कार्यमें रक्त नहीं होते हैं। वे सोचते हैं कि यह शरीर जो सुन्दर सुकोमल दी-

खता है, इसके भीतर अस्थि, मांस, रुधिर, पीब, नशें, मल, मूत्र, शुक्र आदि घृणित पदार्थ भर रहे हैं। ऊपरसे केवल चर्म (चमड़े) की चादर लिपट रही है, जो सब ऐबोंको ढांके हुवे है। इसके दूर होते अथवा रोगादिक होते ही, इसकी सब पोल खुल जाती है—असली अवस्था प्रगट हो जाती है, तब फिर दृष्टि उठाकर देखनेको भी जी नहीं चाहता है।

एक दण्डी साधु किसी सुशील स्त्री पर आशक्त होकर उसके यहां भिक्षाके बहानेसे गया और अपनी इच्छा प्रगट की। स्त्री पतिव्रता और चतुर विदुषी थी। उसका पति घर नहीं था, इसलिये सोच समझकर कहा—"महाराज, आज मैं ऋतुवती हूँ, आप कल आइये। साधु दूसरे दिन आया, यहां उस स्त्रीने जर्राह (सर्जन) को बुलाकर अपने शरीरमें कई जगह फस्त खुलवा ली और सब लोहू इकट्ठा एक बर्तनमें रख छोड़ा। साधुके आते ही, वह धीरे धीरे आदर सहित आई। साधुने उसे नहीं पहिचाना और कहा—"ऐ दासी! तेरी मालकिनको बुला ला"। वह स्त्री बोली—"स्वामी महाराज! मैं ही वह स्त्री हूं", तब भी वह न माना, निदान स्त्रीने वह सब खून (लोहू) लाकर दिखाया और बोली—"महाराज! आपके जाने बाद मैंने फस्त खुलवाई है और सब लोहू यह रखा है। कल जो रूप देख आप मोहित हुवे थे, वह सब इसी बर्तनमें है, इसलिये इसे ग्रहण कीजिये। साधु यह दशा देखकर लज्जित हुवा और उसे माता कहकर बोला—"तुम मेरी धर्मकी माता हो। यथार्थमें यह शरीर ऐसा ही घृणित

और नाशवान है। मेरा अपराध क्षमा कीजिए। अबसे मैं फिर कभी इस प्रकार दुष्ट कार्यका चिंतवन भी न करूंगा। तुमने मुझे आज डूबतेसे बचा लिया। मैं तुम्हारे इस उपकारका चिर कृतज्ञ रहूंगा" इत्यादि कहते हुवे चल दिया।

तात्पर्य—यह शरीर ही जब ऐसा घृणित व नाशवान है, तो इसके विषयसेवन करनेमें सुख कहां है? केवल मूर्खजन ही सुख मानते हैं।

कहा है—नारी जघनरन्ध्रस्य, व्रणमूत्रमयचर्मणा।
वाराह इव विड्भक्षी हन्तमूढा सुखायते॥

इसलिये यदि दुःखसे छूटना और सच्चा सुख पाना है, तो विषयोंसे रहित अपने स्वरूपका ध्यान करो, यही उत्तम ब्रह्मचर्य्य है।

इस प्रकार उत्तम ब्रह्मचर्य्यका संक्षेपसे वर्णन किया।

॥ इति उत्तम ब्रह्मचर्य्य धर्मांगाय नमः ॥

इस प्रकार उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य्य, इन **दश धर्मोंका संक्षिप्त वर्णन** किया। जीव मात्रको इन्हें अपना ही स्वभाव समझकर स्वपर उपकार (सुख) की प्राप्तिके लिये स्वशक्ति अनुसार द्रव्य क्षेत्र काल और भावोंकी अनुकूलता देखकर धारण करना चाहिए।
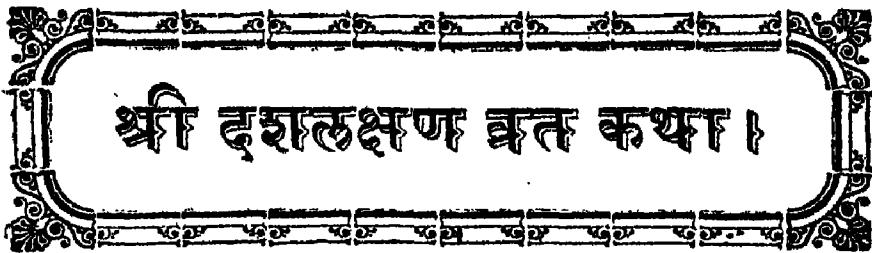
श्री दशलक्षण व्रत कथा।

॥ दोहा ॥

प्रथम वन्दि जिनराजके, शारद गणधर पाय ।
दशलक्षण व्रतकी कथा, कहूँ अगम सुखदाय ॥१॥

॥ चौपाई ॥

विपुलाचल **श्री वीर** कुँवार । आये भवभंजन भरतार ॥
सुन भूपति तहां वंदन गयो। सकल लोक मिलि आनंद भयो ॥२॥
श्री जिन पूजे मन धर चाव । स्तुति करी जोड़कर भाव ॥
धर्मकथा तहां सुनी विचार । दान शील तप भेद अपार ॥३॥
भवदु:ख क्षायक दायक शर्म । भाषो प्रभु **दशलक्षण धर्म** ॥
ताको सुन **श्रेणिक** रुचि धरी । गुरु **गौतमसे** विनती करी ॥४॥
दशलक्षण व्रत **कथा** विशाल । मुझसे भाषो दीनदयाल ॥
बोले गुरु सुन श्रेणिक चन्द्र । दिव्यध्वनि कही वीर जिनेंद्र ॥५॥
खंड धातुकी पूर्व भाग । मेरु थकी दक्षिण अनुराग ॥
सीतोदा उपकंठी सही । नगरी **विशालाक्ष** शुभ कही ॥६॥
नाम **प्रीतंकर** भूपति बसे । **प्रीयकरी** रानी तसु लसे ॥
मृगांकरेखा सुता सुजान । **मतिशेखर** नामा सो प्रधान ॥७॥
शशिप्रभा ताकी वरनार । सुता **कामसेना** निरधार ॥
राजसेठ **गुणसागर** जान । **शीलसुभद्रा** नारि बरवान ॥८॥

सुता **मदनरेखा** तसु खरी । रुप कला लक्षण गुण भरी ॥
लक्षभद्र नामा कुतवाल । शशिरेखा नारी गुणमाल ॥९॥
कन्या तास घरे रोहनी । ये चारों वरणी गुरु तनी ॥
शास्त्र पढ़ें गुरु पास विचार । स्नेह परस्पर बढ़ो अपार ॥१०॥
मास वसन्त भयो निरधार । कन्या चारों वन हि मँझार ॥
गईं **मुनीश्वर** देखे तहां । तिनको वन्दन कीनो वहां ॥१०॥
चारों कन्या मुनिसे कही । त्रिया लिंग ज्यों छूटे सही ॥
ऐसा व्रत उपदेशो अबै । यासे नर तनु पावें सबै ॥१२॥
बोले मुनि **दशलक्षण** सार । चारों करो होहु भवपार ॥
कन्या बोलीं किम कीजिये । किस दिनसे व्रतको लीजिये ॥१३॥
तब गुरु बोले बचन रसाल । **भादों** मास कहो गुणमाल ॥
धवल **पांचमी** दिनसे सार । पंचामृत अभिषेक उतार ॥१४॥
पूजार्चन कीजे गुणमाल । जिन चौवीस तनी शुभसाल ॥
उत्तम क्षमा आदि अति सार । दशमो ब्रह्मचर्य गुण धार ॥१५॥
पुष्पांजलि इस विधि दीजिये । तीनों काल भक्ति कीजिये ॥
इस विधि दश वासर आचरो । नियमित व्रत शुभ कार्य करो ॥१६॥
उत्तम दश अनशन कर योग । मध्यम व्रत कांजीका भोग ॥
भूमि शयन कीजे दश राति । ब्रह्मचर्य पालो सुख पाति ॥१७॥
इस विधि दश वर्ष जब जांय । तब तक व्रत कीजे धर भाय ॥
फिर व्रत **उद्यापन** कीजिये । **दान** सुपात्रोंको दीजिये ॥१८॥
औषधि अभय शास्त्र आहार । पंचामृत अभिषेक हि सार ॥
मांड़नो रचि पूजा कीजिये । छत्र चमर आदिक दीजिये ॥१९॥

उद्यापनकी शक्ति न होइ । तो दूनो व्रत कीजे लोइ ॥
पुण्यतनो संचय भण्डार । परभव पावे मोक्षसो द्वार ॥२०॥
तब चारों कन्या व्रत लयो । मुनिवर भक्तिभाव लखि दयो ॥
यथाशक्ति व्रत पूर्ण करो । उद्यापन विधिसे आचरो ॥२१॥
अंतकाल वे कन्या चार । सुमरण करो पंच नवकार ॥
चारों मरण समाधिसु कियो । दशवें स्वर्ग जन्म तिन लियो ॥२२॥
षोड़स सागर आयु प्रमाण । धर्मध्यान सेवें तहां जान ॥
सिद्धक्षेत्रमें करें विहार । क्षायक सम्यक् उदय अपार ॥२३॥
सुभग अवन्ती देश विशाल । उज्जयनी नगरी गुणमाल ॥
स्थूलभद्र नामा नरपती । नारी चारुसो अति गुणवती ॥२४॥
देव गर्भमें आये चार । ता रानीके उदर मझार ॥
प्रथम सुपुत्र देवप्रसु भयो । दूजो सुत गुणचन्द्र ही कहो ॥२५॥
पद्मप्रभा तीजो बलवीर । पद्मसारथी चौथो धीर ॥
जन्म महोत्सव तिनको करो । अशुभ दोष गृह दोनों हरो ॥२६॥
निकलप्रभा राजाकी सुता । ते चारों परनी गुण युता ॥
प्रथम सुता सो ब्रह्मी नाम । दुतिया कुमारी सो गुण धाम ॥२७॥
रुपवती तीजी सुकुमाल । मृगाक्ष चौथी गुणसाल ॥
करो ब्याह घरको आइयो । सकल लोक घर आनंद लियो ॥२८॥
स्थूलभद्र राजा इक दिना । भोग विरक्त भयो भवतना ॥
राज पुत्रको दीनो सार । बनमें जाय योग शुभ धार ॥२९॥
तप कर उपजो केवल ज्ञान । वसु विधि हानि पायो निर्वाण ॥
अब वे पुत्र राजको करें । पुण्यका फल पावें ते धरें ॥३०॥

चारों बांधव चतुर सुजान । अहि निशि धर्म तनो फल मान ॥
एक समय विरक्त सो भये । आतम कार्य चिंतवत ठये ॥३१॥
चारों बांधव दिक्षा लई । बनमें जाय तपस्या ठई ॥
निज मनमें चिद्रुपा राधि । शुक्लध्यान को पायो साधि ॥३२॥
सर्व विमल केवल उपनो । सुख अनन्त तब ही सो ठनो ॥
करो महोत्सव देवकुमार । जय २ शब्द भयो तिहिवार ॥३३॥
शेष कर्म निर्बल तिन करे । पहुँचे मुक्ति पुरीमें खरे ॥
अगम अगोचर भवजल पार । दशलक्षण व्रतको फल सार ॥३४॥
वीर जिनेश्वर कही सुजान । शीतल जिनके बाड़े मान ॥
गौतम गणधर भाषी सार । सुन श्रेणिक आये दरबार ॥३५॥
जो यह व्रत नरनारी करे । ताके गृह सम्पत्ति अनुसरे ॥
भट्टारक श्री भूषणवीर । तिनके चेला गुणगंभीर ॥३६॥
ब्रह्मज्ञान सागर सुविचार । कही कथा दशलक्षण सार ॥
मन वच तन व्रत पाले जोइ । मुक्ति वरांगणा भोगे सोइ ॥३७॥

॥ इति श्री दशलक्षण व्रत कथा भाषा सम्पूर्णम् ॥